DURVASNA-PRTIKAR
DSHKAM G.K.V.




पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या .... आगत संख्या..........

पुस्तक वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

ओ३म्

श्रीमद् विद्यारण्य-स्वामी-विरचितं

दुर्वासना-प्रतीकार-दशकम्

(सरल-हिन्दी-व्याख्या-सहितम्)



व्याख्याकार

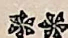
श्रीमत् स्वामी ब्रह्मप्रकाश जी महाराज

प्रकाशक—

ब्र० निहाल

चेतन देव कुटिया

कनखल (हरिद्वार)



प्रथमावृत्ति – १००० (सं० २०१५)

द्वितीयवृत्ति – १००० (सं० २०१७)

तृतीयवृत्ति – १००० (सं० २०१८)

चतुर्थवृत्ति – १००० (सं० २०२२)

पंचमवृत्ति – १००० (सं० २०२८)

धर्मार्थ

पुस्तक प्राप्ति के स्थान :

१. नेपाली क्षेत्र–ऋषिकेश।

२. पंजाबी पुस्तक भण्डार, देहली-६

मुद्रक—

परम प्रिंटिंग सर्विस, २८९७, बुलबुलीखाना, बाज़ार सीताराम, दिल्ली-६ में कम्पोज होकर यादव प्रेस, दिल्ली में छपी।



श्रीमद् विद्यारण्य–स्वामी--विरचितं

दुर्वासना–प्रतीकार–दशकम्

(सरल-हिन्दी-व्याख्या-सहितम्)



व्याख्याकार

श्रीमत् स्वामी ब्रह्मप्रकाश जी महाराज

परिचय

ग्रंथ:- यह 'दुर्वासना प्रतीकार दशक' विरक्त महात्मा श्री रामदास जी को गङ्गा तीरे विचरण करते एक ब्रह्मचारी से प्राप्त हुआ, जिनके पास हस्त लिखित गुरु परम्परा से चला आ रहा था। आप पूज्यपाद स्वामी श्री ब्रह्म प्रकाश जी महाराज के पास संशोधन तथा अर्थ समझने के लिए लाये। इस की व्याख्या पूज्य स्वामी परिपूर्णानन्द गिरि जी ने भी श्रवण की, उन्हें अधिकारियों के लिए अत्यन्त उपयोगी जान पड़ने के कारण पुनः व्याख्या के लिए आग्रह किया। पूज्य स्वामी जी महाराज ने सत्सङ्ग सभा में ही इसकी पुनः व्याख्या की और आप इसे लिखते रहे और तत्पश्चात् इसके मुद्रण का प्रयास किया। वस्तुतः इस अति उपयोगी पुस्तक का जिज्ञासुओं के कर कमलतक पहुँचाने का सम्पूर्ण श्रेयः इन्हें ही प्राप्त है।

इसे पुस्तक नाम दिया जावे या संसार रोग की महौषधि कहा जावे यह युक्त ही है कारण इसमें चित्त के सूक्षम रोग 'जो कि ज्ञान में प्रतिबन्धक हैं' का निदान तथा उनकी निवृत्ति का उपायरूप महौषधि वर्णन की गई है। 'शार्दूल विक्रिडित' छन्द में रचित यह दशक वेदान्त स्तोत्रों में एक अपूर्व वस्तु है। पुस्तक की लोक प्रियता में प्रमाण यह है कि लगभग बारह वर्षों में पांचवी बार छप रही है तथा प्रेमीजन इस की उत्कंठा पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

ग्रन्थकार:-पूज्यवाद श्री विद्यारण्य स्वामी जी जिन का गृहस्थ काल में माधवाचार्य नाम था। आप विजयनगर राज्य के प्रधानमन्त्री भी रहे। सन्यास लेने के पश्चात आप सः १३८८ से सं० १४४३ तक श्रृंगेरी मठ के पीठाधीश शकराचार्य पद पर आसीन रहे तथा आपने लोक हितार्थ प्रचुर ग्रन्थों का संस्कृत में निर्माण किया, यथा 'पंचदशी' 'वार्तिकसार' वैयासिक न्याय माला' अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं जो कि मुद्रित हो कर जिज्ञासुओं को मोक्ष-पथ पर अग्रसर कर रहे हैं।

व्याख्याकार— पूज्यपाद विरक्त मुकुट मणि श्री १०८ स्वामी ब्रह्म प्रकाश जी महाराज का शरीर पंजाब प्रान्त का था। आपको स्वाध्याय एवं साधना क्रम बाल्यकाल से ही आरम्भ हो गया था, जो कि पूर्व जन्मोपार्जित निष्काम पुण्य एव भक्ति के संस्कारों का परिचायक है। किशोरावस्था पूर्ण होते ही आपने गृह त्याग संन्यास पथ पर पदार्पण किया तथा आजीवन स्त्री दर्शन एव द्रव्य स्पर्श से उपेक्षा करते रहे। दीक्षा आपने उदासीन प्रवर व्याख्यान केसरी श्री १०८ स्वामी अनन्त प्रकाश जी महाराज से प्राप्त की, तथा विद्या गुरू आपके पूज्यपाद वेदान्त केसरी श्री १०८ स्वामी मङ्गलनाथ जी महाराज थे, जिन से कुछ ही वर्षों में वेदान्त के समस्त मुख्य ग्रन्थों का अध्ययन आपने कर लिया था। श्री नाथ जी महाराज आपकी मेधा की प्रशसा करते हुए कहते थे—"ब्रह्म प्रकाश मानव नहीं फरिश्ता (देवता) है"। नाथ जी महाराज के ब्रह्म लीन होने के पश्चात् पच्चीस वर्ष ग्रीष्म गंगोत्री तथा शीतकाल उत्तरकाशी में रहे जहां मौन रह कर आपने मनन, निदिध्यासन एवं उग्रतप कया। पर्वतीय शीत प्रधान देश में अधिक निवास के कारण आपको अधिक रक्तचाप का रोग हो गया जिस के कारण आप शीतकाल मे ऋषिकेश पधारने लगे, जो कि देहावसान पर्यन्त पीयूष वाहिनी माता श्री भागीरथी के प्रवाहत अजस्र बहता रहा। आपके सत्संग में यह विशेषता थी कि साधारण संस्कारी से लेकर विद्वान तक को सम लाभ होता था कारण कि आप व्याख्या लघु दृष्टांतों सहित सरल हिन्दी में करते थे जिसका परिचय यह छोटी सी पुस्तक दे रही है। अपने काल में त्याग वैराग्य, उपरामता, असंग्रह, अद्वैत निष्ठा एवं श्रोत्रीयता में उत्तराखण्ड की विभूतियों में अग्रगण्यों में से आप एक थे जिसकी प्रशंसा वयोवृद्ध महात्मा करते थे। आपने अद्वैत मार्ग के पथिकों का ज्योति स्तम्भ बनकर पथ प्रदर्शन किया जिसके

लिये हम नत मस्तक श्रद्धापूर्वक आपके पावन चरणकमलों में कोटिशः प्रणाम करते है। अन्त में आप ने पंच दिवसीय अनशन कर, केवल गंगाजल पान कर फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा स० २०२१ को स्वेच्छा पूर्वक कलेवर विसर्जन कर सदा के लिये निर्वाण पद प्राप्त किया। प्रति वर्ष उसी तिथि पर आपके शिष्य तथा भक्त जन आपके अन्तिम निवास स्थान पर समारोह पूर्वक आपका निर्वाण दिवस मनाया करते हैं। विशेष परिचय आपकी जीवनी में दिया जावेगा यहाँ इतना ही पर्याप्त है। ओ३म् शम्।

आपका पाद पांसु
ब्रह्मचारी निहाल

विषय सूची





❀ श्रीकृष्णाय नमः ❀

दुर्वासना प्रतीकार दशकम्

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसन्ततिम् ।
स्मृतिमात्रेण यत्पुंसाँ ब्रह्म तन्मङ्गलं परम् ।।
सच्चिदानन्द–रुपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ।

अथ दुर्वासनाप्रतीकारदशकम्

श्री विद्यारण्य स्वामी, अन्तःकरण की दुष्ट वासनाएँ जिनका नाम 'दुर्वासना' है, जो मुमुक्षु के पतन का हेतु और अनर्थ करने वाली हैं, उनका परिहार रूप 'प्रतिकार' सद्वासना रूप विरोधी वृत्तियों के कथन द्वारा 'अथ' शब्द से आरम्भ करते हैं:-

शास्त्र में वासना का स्वरूप इस प्रकार लिखा है– "पूर्व और अपर के विचार से रहित दृढ़ भावना द्वारा जो किसी भी पदार्थ का ग्रहण है वह 'वासना' कही जाती है।" वह वासना शुभ हो अथवा अशुभ हो बाह्य निमित्त से उत्पन्न होती है। जैसे शत्रु के देखने से क्रोधादि की अशुभ वासना और साधु महापुरुष के दर्शन से श्रद्धा, शान्ति आदि की शुभ वासना उदय होता है। यह दुष्ट वासनाएँ झाड़ू से कूड़ा बाहर निकाल देने की न्याईं हृदय से बाहर नहीं निकाली जा सकतीं, क्योंकि

वासनाओं से वृत्तियाँ और वृत्तियों से वासनाएँ बनती हैं। इस कारण जो मुमुक्षु संसार से उपरत हुआ है उसका कर्तव्य है कि अशुभ वासनाओं की वृत्तियों को शुभ वासनाओं की वृत्तियों से दमन करे। शुभ वासनाओं के बढ़ जाने से अशुभ वासनाएँ निमित्त होने पर भी किसी भी अशुभ कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होंगी। यही इनका अभाव है। साधक अपने मन को ही शिष्य बना कर उसे शिक्षा देता है। ग्रन्थकार प्रथम दिन और रात्रि की चर्या को निरूपण करते हैं:-

❀ मुमुक्षु की दिन रात्रि की चर्या ❀

प्रातर्वैदिककर्मतस्तदनु सद् वेदान्तसञ्चिन्तया
पश्चाद् भारतमोक्षधर्मकथयावासिष्ठरामायणात्।
सायं भागवतार्थतत्त्वकथया रात्रौ निदिध्यासनात्
कालो गच्छतु नःशरीरभरणंप्रारब्धकराठार्पितम्।१

अन्वयः—प्रातः (प्रातःकाल) वैदिक कर्मतः (वेद विहित नित्य कर्म से), तत् अनु (उसके पश्चात्) सद् वेदान्त सचिन्तया (श्रेष्ठ वेदोक्त चिन्तन से), पश्चात् (तदनन्तर) भारत-मोक्ष-धर्म कथया (महाभारतांतर्गत मोक्षधर्म की कथा श्रवण से, अथवा) वासिष्ठ रामायणात् (योगवासिष्ठ रामायण के श्रवण से) सायं (सायंकाल) भागवत-अर्थ-तत्वकथया (श्रीमद्भागवत के श्रवण से) रात्रौ (रात्रिमें) निदिध्यास (निदिध्यासन से) नः (हमारा) कालः (समय) गच्छतु (व्यतीत होवे)। शरीर-भरणं (शरीर का पालन पोषण-

दिक) प्रारब्धकण्ठ-अर्पितम् (प्रारब्ध के ऊपर सौंपा हुआ है)॥ १॥

दिन और रात्रि के आठ प्रहरों में से पांच प्रहर दिन के और तीन प्रहर रात्रि के माने गये हैं। निवृत्तिप्रधान मुमुक्षु पुरुष दिन के पाँच प्रहरों के तीन विभाग करे। प्रथम विभाग प्रातःकाल सूर्योदय से डेढ़ घण्टे के समीप पहले अपने वर्णाश्रम के अनुसार वेद और स्मृति में विधान किये गये जो नित्यकर्म शौच, स्नान, जप पाठ, ध्यान, सन्ध्यादि हैं उनमें हमारा काल व्यतीत होवे। तदनन्तर वेद की प्रत्येक शाखा का अन्तिम उपनिषद् भाग तथा श्रेष्ठ वेदान्त के अर्थ के बोधक प्रस्थानत्रय भगवान शङ्कराचार्य कृत ब्रह्मसूत्र शारीरकभाष्य, उपनिषद् भाष्य और गीता भाष्य के श्रवण और मनन रूप चिन्तन में हमारा समय व्यतीत हो। इसके अनन्तर दिन का दूसरा भाग महाभारत के शान्तिपर्व में कथन किये गए ज्ञान और वैराग्यादि निवृत्ति लक्षण मोक्षधर्मों के कथन और श्रवण मनन में अथवा योगवासिष्ठ जो महर्षि वसिष्ठ ने भगवान श्री रामचन्द्र जी को महारामायण में अध्यात्मोपदेश दिया है—के कथन और श्रवण में हमारा समय व्यतीत होवे। तदनन्तर दिन का तीसरा भाग सायंकाल श्रीमद्भागवत के तत्त्व अर्थ, जिसमें ब्रह्मात्मैकत्व का प्रतिपादन किया है, जैसा कि भगवान व्यास स्वयं श्रीमद्भा-

गवत के प्रन्त में कहते हैं कि 'ब्रह्मात्मैकत्व लक्षण जो सर्व वेदान्तों का सार है अर्थात् जो अद्वितीय वस्तु है इसी में श्रीमद्भागवत की निष्ठा है अर्थात् अद्वैत वस्तु को ही श्रीमद्भागवत विषय करता है और कैवल्य मोक्ष ही इसका प्रयोजन है" उसके कथन और श्रवण में हमारा समय व्यतीत होवे। इसके अनन्तर रात्रि के तीन प्रहर का समय दिन भर के श्रवण और मनन किये हुए अर्थों का अनात्माकार विजातीय वृत्तियों के तिरस्कार पूर्वक आत्माकार सजातीय वृत्तियों का प्रवाहकरण रूप जो निदिध्यासन है उसमें व्यतीत होवे।

❀ प्रारब्धाधीन देहस्थिति ❀

शङ्का—दिन और रात्रि के आठों प्रहर यदि इसी प्रकार आत्मचिन्तन में ही व्यतीत कर दिये गए तो शरीर का खान-पान, भरण-पोषण एवं उपजीविका आदि किस प्रकार होगी ?

इसी के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि शरीर का भरण-पोषण भगवान अंतर्यामि परमात्मा ने पहले ही प्रारब्ध के समर्पण किया हुआ है। जैसे कहा है कि 'पहले बनी प्रारब्ध पीछे बना शरीर" । जीव जब गर्भ में था तो बिना परिश्रम किये माता के उदर में इसका भरण पोषण होता रहा। और गर्भ से जब बाहर आया तो पहले ही

माता के स्तनों में दूध तैयार मिला। वह दूध जीव के पुरुषार्थ से उत्पन्न नहीं हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् स्वयं प्रतिज्ञा करते हैं:—"निर्योगक्षेम आत्मवान् [भव]", "योग क्षेमं वहाम्यहम्"—हे अर्जुन। तू अप्राप्त की प्राप्तिरूप योग और प्राप्त की रक्षा रूप क्षेम वाला न हो। योग और क्षेम को मैं वहन अर्थात सम्पादन करता हूँ—युक्ति से भी सिद्ध है कि जो जिस जीव की प्रारब्ध है वह उसे अवश्य प्राप्त होती है। जैसे बच्चे, वृद्ध अथवा भजनशील पुरुष कुछ उद्योग न करके भी अपनी अपनी प्रारब्ध से खान पान को प्राप्त कर रहे हैं। मूर्ख पुरुष अविचार से यह जानते हैं कि हमको जो भोग्य पदार्थ प्राप्त हो रहे हैं यह हमारे ही उद्यम का फल है। परन्तु यह नहीं जानते कि इनकी प्राप्ति का भार तो फिर भी ईश्वर पर ही है। जैसे रज्जब जी ने कहा है:—

अश्व, गजिन्द बोहित चढ़े, मूरख चाये सिर भार।
त्यों रज्जब सिर राम के, पच पच मरें गंवार॥

अर्थ—यह कि मूर्ख पुरुष घोड़े पर, हाथी या नौका पर चढ़ कर भी बोझे को अपने सिर पर रख कर व्यर्थ ही अपनी ग्रीवा तुड़वा लेता है। बोझ तो फिर भी अश्व हाथी या नौका पर ही है।

शङ्का—शरीर के धारणार्थ खान पान शौच स्नानादि

शारीरिक क्रियायें जो आवश्यक हैं वह तो अनिवार्य हैं, करनी ही पड़ेंगी ?

समाधान–इन खानपानादि आवश्यक क्रियाओं में चित्त भगवच्चिन्तन में लग सकता है। इसलिए इनके करने पर व्यवधान नहीं पड़ता। स्वाभाविक शरीर और इन्द्रियों की क्रियाऐँ पूर्व संस्कार से होती जाती हैं। इसलिए इनके होने पर भी भजन में कोई बाधा नहीं हो सकती। उपजीविका आदिक के लिए अधिक क्रियाओं के करने से भजन में बाधा पड़ती है। सो ग्रन्थकार ने उसका ही वारण किया है। शरीर के रक्षणादि का निषेध नहीं किया। इन साधनों में सर्वथा त्यागी महात्मा का ही अधिकार है। बहुत आरम्भ व्यावहार करने वाले का नहीं है।

इस प्रकार विचार के बल से मुमुक्षु शरीर के भरण पोषण को भगवान तथा प्रारब्ध के अर्पण करके निश्चिन्त हो कर भगवदनुसंधान ब्रह्मात्मैकत्व चिन्तन में अग्रपर होकर समय व्यतीत करे। "गच्छतु" शब्द से ईश्वर से प्रार्थना का अर्थ भी प्रतीत होता है ॥१॥

प्रथम श्लोक में साधक की दिनचर्या कथन करके अब आचार्य सद्वासनाओं के द्वारा दुर्वासनाओं की निवृत्ति रूपक अलङ्कार से कहते हैं।

अज्ञानंत्यज हे मनो मम सदाब्रह्मात्मसद् भावनात्

सङ्कल्पानखिलानपित्यजजगन्मिथ्यात्वसंभावनात्
कामंसाधन साधन श्रम परिध्यानादजस्त्रं त्यज
क्रोधन्तुक्षमयासदा जहिबलाल्लोभंतुसन्तोषतः।३।

अन्वयः—हे-मम-मनः (हे मेरे मन) सदा (सर्वदा) ब्रह्म आत्म सद्-भावनात् (सम्यक ब्राह्मात्म चिन्तन से) अज्ञानँ (अज्ञान को) त्यज (त्याग कर) जगत्-मिथ्यात्व-संभावनात्(जगत के मिथ्यात्व की सम्यक भावना से) अखिलान (सम्पूर्ण) सकल्पान्-अपि (सकल्पों को भी) त्यज (त्याग कर) अजस्त्रं (निरन्तर) साधन साधन-श्रम-परिध्यानात (विषय सम्पादन करने में परिश्रम को देख कर) कामं (विषय कामना को) त्यज (त्याग कर), सदा (सर्वदा) क्षमया (क्षमा से) क्रोधं तु (क्रोध को भी) बलात् (बल-पूर्वक) जहि (नाश कर), लोभं तु (और लोभ को भी) संतोषतः (संतोष से नाश कर) ॥२॥

विवेक-युक्त बुद्धि तथा मन की दुर्वासनाएँ

विवेक बुद्धि पूर्वक मोक्ष कामनावाला साधक अपने मन को शिक्षा देता है। भाव यह है कि मन में दुर्वासनाएँ भरी हुई हैं। जिनके आधीन हुआ मन अनिष्ट चिन्तन करता है। इसको विवेक वाली बुद्धि समझाती है। लोक में देखा भी गया है कि यदि मन प्रबल हो जावे तो पुरुष दोषों और दुर्गुणों की तरफ झुक जाता है। और यदि बुद्धि प्रबल हो जावे तो मन दुर्गुणों का त्याग कर सदगुणों वाला बन जाता है। यह देवासुर संग्राम प्रत्येक अन्तःकरण में सर्वदा हो रहा है कि दुष्ट वृत्तियाँ श्रेष्ठ

वृत्तियों को दबाती हैं और श्रेष्ठ वृत्तियां दुष्ट वृत्तियों को दबाती हैं इसलिए विवेक बुद्धि सहित जिज्ञासु अपने मन को समझाता है। कि-

हे मन ! सबसे प्रथम अज्ञान का त्याग कर क्योंकि अज्ञान ही सब अनर्थों का मूल है।

❋ द्विविध अविद्या ❋

अज्ञान का अर्थ मूल अविद्या और कार्य अविद्या इन दोनों का त्याग कर। वास्तव में मूल अविद्या तो ब्रह्मा मैकत्व के साक्षात् बोध से निवृत्त होगी। फिर भी अज्ञान को जो गाढ़ अवस्था है उसको साधनों से त्याग कर। जैसे अरुणोदय अन्धकार की गाढ़ता को पहिले ही हटा देता है। सूर्य भगवान् तो छायामात्र को निवारण करता है। इसी प्रकार आसुरी सम्पदा जो अज्ञान की गाढ़ अवस्था है उसको दैवी सम्पदा के साधनों से दूर कर। ज्ञान तो छाया रूप जो आवरण है उसको निवारण करेगा। इस वास्ते प्रथम अज्ञान की गाढ़ अवस्था यदि निवृत्त होगी तभी साधनों में भी प्रवृत्ति होगी। आसुरी सम्पत्ति के दूर होने से ही दैवी सम्पदा बढ़ती है और दैवी सम्पदा के बढ़ने से आसुरी भाव नष्ट होते हैं इनका परस्पर सम्बन्ध है।

* अज्ञान संकल्प तथा काम की निवृत्ति *

इस अज्ञान के निवारण का क्या साधन है ? उत्तर देते हैं कि ब्रह्म ही आत्मा है। इस प्रकार की श्रेष्ठ और उत्कृष्ट भावनायुक्त दीर्घकाल निरंतर और सत्कार पूर्वक सेवन किये हुए ज्ञान के अभ्यास से हे मनः अज्ञान को दूर कर। इस मूलाज्ञान की निवृत्ति के उपाय के साथ साथ इस अज्ञान का कार्य जो संकल्प-पदार्थों में शोभना ध्यास कि यह अच्छे हैं-इस संकल्प को भी त्याग कर। किस साधन से ? जगत् के मिथ्यात्व की सम्यक भावना से कि यह जगत् मृगतृष्णा के जल और आकाश में नीलता के समान मिथ्या है। इस प्रकार की दृढ़ भावना से संकल्पों का त्याग कर। इस संकल्प रूप शोभना- ध्यास का कार्य जो काम है, जो विषयों की इच्छामात्र है, हे मनः उसका भी त्याग कर। किस साधन से ? इस विचार से कि इच्छा के विषय जो स्त्री पुत्र, धन, गृहादि हैं उनकी प्राप्ति और रक्षादि के प्रयत्न करने में जो परि- श्रम होता है और विक्षेप, चिन्ता, छल, कपट, चोरी आदि से अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं और पाप करने पड़ते हैं उनका ध्यान रूप चिन्तन करके इन विषयों की इच्छा का सदा त्याग कर।

❀ क्रोध की निवृत्ति का उपाय ❀

इस काम का भी कार्य जो क्रोध है, हे मन: उसका भी त्याग कर। क्रोध का स्वरूप अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति का प्रतिबन्ध करने वाले पर अन्तःकरण की वृत्ति का अभिज्वलन रूप क्षोभ है। जिसके चिन्ह नेत्रों का लाल होना, होंठों का फड़कना, शरीर में कम्प, वाणी से गाली और दुर्वचन, हाथों से मारपीट, मन से बुरा चिन्तन आदि हैं। ऐसे कष्टदायक क्रोध का भी त्याग कर। किस साधन से ? क्षमा के स्वभाव से अर्थात् सहनशीलता से। किसी व्यक्ति के अपराध करने पर और इच्छित पदार्थ के परोक्ष या अपरोक्ष विघात करने पर भी मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार का बुरा चिन्तन, दुर्वचन और आघातादि न करना—इस उपाय से हे मन:! क्रोध का त्याग कर। 'क्रोधं तु' इसमें 'तु' शब्द काम से क्रोध की विलक्षणता कथन करे है। अर्थात् क्रोध के निवारण में क्षमा रूप साधन को दृढ़ प्रयत्न से सम्पादन करके साधक क्रोध का निवारण करे। अथवा जिस वस्तु के लिए क्रोध हो रहा है उसकी इच्छा के त्याग कर देने से भी क्रोध नष्ट हो जाता है।

लोभ निवृत्ति का उपाय

इसी तरह हे मनः । लोभ का भी त्याग कर । लोभ का स्वरूप यह है कि प्राप्त पदार्थ के त्याग को सहन न कर सकना । अथवा जो पदार्थ प्राप्त हैं उनसे चित्त को पूर्ति का न होना, अधिक इच्छा का बढ़ना । 'और होवें और होवें'—इस प्रकार लोभ की वृत्ति का भी हे मनः ! त्याग कर । लोभ के त्याग का क्या उपाय है ? सन्तोष से अर्थात् अप्राप्त की वाञ्छा न करके बिना प्रयत्न से जो कुछ प्राप्त हुआ है उसको यथाशास्त्र बर्ताव में लाना और सौम्य तथा सदाचार से सम्पन्न होकर उसका सेवन करना और प्राणयात्रा मात्र से अधिक ग्रहण न करना इन साधनों से हे मनः! लोभ का त्याग कर 'लोभं तु' यहां 'तु' शब्द पूर्व कथन किये हुये क्रोध से विलक्षणता कथन करता है अर्थात् दृढ़ सन्तोष से ही लोभ निवृत्त होता है, क्षमादि से नहीं ॥२॥

अब तीसरे श्लोक से और जो दुर्वासनायें हैं उनका उल्लेख पूर्वक सद्वासनाओं से उनका प्रतीकार कहते हैं:-

जिह्वोपस्थसुखभ्रमं त्यज मनः पर्यन्तदुःखेक्षणात्
पारुष्यं मृदुभाषणात्त्यज वृथाऽलापश्रमं मौनतः।
दुस्सङ्गं त्यज साधुसंगमबलाद् गर्वं तु भङ्गेक्षणात्

निन्दादुःखमनिन्द्यदेवमुनिभिर्निन्दाकथासंस्कृतेः*॥३।

अन्वयः मनः (हे मन) परि-अन्त-दुःख-ईक्षणात् (सर्वं प्रकार दुःख रूप तथा क्षणिक ऐसे विचार से)जिह्वा उपस्थ सुख भ्रमं (जिह्वा तथा उपस्थ इन्द्रिय के सुख के भ्रम को) त्यज (त्यागकर), मृदु भाषणात् (कोमल मधुर भाषण से) पारुष्यं (कटु भाषण को), मौनतः (मौन धारण से) वृथा-आलाप-श्रम (व्यर्थ प्रलाप के परिश्रम का त्याग कर), साधु-संगम-बलात् (सत्पुरुषों के सतसंग के बल से) दुःसंगम् (दुष्ट पुरुषों की संगति को त्याग कर), भग-ईक्षणात्-तु (प्रतिपक्षी से संभावित पराजय के चिन्तन से) गर्वं (विद्या धनादि के अभिमान को त्याग कर) अनिन्द्यदेव-मुनिभिः (निन्दा के अयोग्य देवता तथा मुनियों की) निन्दा-कथा- संस्मृतेः (निन्दा कथा के स्मरण से) निन्दा-दुखं (अपनी निन्दा के दुःख का त्याग कर, सहा कर ॥३॥

❁ जिह्वोपस्थ संयम का उपाय ❁

हे मनः ! जिह्वा और उपस्थ इन दोनों इन्द्रियों कर के ब्रह्मा से लेकर मच्छर पर्यन्त सारा जगत ही हत हो रहा है । इस लिये जिह्वा और उपस्थ इन्द्रिय के सुख भ्रम को भी त्याग दे अर्थात् खान-पान से रसना इन्द्रिय द्वारा और विषय भोग से उपस्थ इन्द्रिय द्वारा सुख का भ्रम है, सुख है नहीं, इसका त्याग कर । किस साधन से 'पर्यन्त-दुःखेक्षणात्' परि कहिये सर्व ओर दुःख के देखने से तथा अन्त कहिये क्षण मात्र के पीछे नष्ट हो जाता

*❁ संस्मृतेः' पाठ भी हो सकता है ।

है ऐसा देखने से रसना इन्द्रिय और उपस्थ इन्द्रिय के सुख भ्रम का त्याग कर। अथवा "परि" शब्द वर्जन में है। अर्थात् अन्त का निषेध करता है। भाव यह कि अनन्त, प्रनन्त दुःख के देखने से कि इनमें अनन्त दुःख हैं। जितने अध्यात्मादि दुःख हैं सो सब इन्हीं से प्राप्त होते है। इस प्रकार देखने से इसका त्याग कर। 'भ्रम' शब्द जो सुख के साथ लगाया गया है वह भी हेतु है। अर्थात् इस सुख को भ्रम रूप होने से इसे भी त्याग कर, क्योंकि यह सुख नहीं है। क्षणमात्र सुखाभास है। यदि सुख होता तो निवृत्त क्यों होता और जिस सुख में राग द्वेष काम क्रोधादि दोष और दुःख पूर्ण हैं वह सुख कैसे हो सकता है इसलिए सुख का भ्रम है। सुख वह है जिससे इन्द्रियों और मन को शान्ति होवे। जिसमें कोई दोष न हो, कोई दुःख न हो वह स्वरूप सुख है। यह विषयसुख तो दुःखरूप ही है, इसमें सुख की तो भ्रान्ति ही है। इस वास्ते हे मनः! इसका त्याग कर।

❀ कटु भाषण त्याग का उपाय ❀

'पारुष्यं' अर्थात् कटुवचन बोलना। इसका भी त्याग कर। किस साधन से? मृदु, कोमल और मधुर भाषण से। जिस वचन से उद्वेग किसी को न हो सच्चा और प्रिय हो और परिणाम में हितरूप होवे। ऐसे

वचन से वाणी की कटुता का हे मनः ! त्याग कर।

❀ वृथालाप त्याग का उपाय ❀

वृथालाप अर्थात् व्यर्थ ही असम्बद्ध बहुत प्रलाप करना हे मनः। इस श्रम को त्याग दे। किस साधन से ? 'मौनतः'-वाणी के मौन से। भाव यह कि व्यर्थ बकवास से वाणी को श्रम होता है। इस श्रम के त्याग के लिए मौन ही उत्तम साधन है इस मौन रूपी उत्तम साधन को अवलम्बन करके हे मनः! वृथा आलाप के श्रम को त्याग कर।

❀ दुःसंग त्याग का उपाय ❀

हे मनः ! 'दुस्संगम्'—दुष्ट पुरुषों का संग अर्थात् विषय और विषयियों का संग त्याग कर। सङ्ग का अर्थ सम्बन्ध अथवा आसक्ति है इसका त्याग कर। किस साधन से ? 'साधु संगमबलात्'—अर्थात् साधु जो श्रेष्ठ सत्पुरुष हैं उनके संग से अर्थात् सम्बन्ध तथा आसक्ति के बल से। साधु पुरुष के लक्षण यह हैं कि तितिक्षु, करूणाशील, प्राणिमात्र का सुहृद हो, अजातशत्रु जिसका कोई शत्रु न हो, शान्त हो। ऐसे साधु ही साधुओं के भूषण हैं। इनके संग के बल से कि मैं अवश्य ही दुस्संग का त्याग करूँगा इस उत्साह और दृढ़ आसक्ति के बल से हे मनः ! दुस्संग का त्याग कर।

❀ गर्व त्याग का उपाय ❀

हे मनः ! विद्या और धन आदिकों से होने वाला

जो अभिमानरूप घमण्ड–गर्व है। इसका भी त्याग कर किस साधन से ? गर्व के नाश देखने से। अर्थात् अधिक विद्वान् तथा अधिक धन वाले से गर्व का नाश होता है। जैसे अजातशत्रु राजा ने बालाकी ब्राह्मण का गर्व भंग किया था। इस तरह जो भी गर्व करेगा उससे अधिक विद्वान् तथा धन वाला उस गर्व का नाश कर देगा। इस प्रकार इसके पुनः २ देखने से गर्व का त्याग कर। अर्थात् गर्व के निवारण का उपाय गर्व भंग का विचार है। यहां 'तु' शब्द गर्व की दुस्सङ्ग से विलक्षणता को प्रकट करे है।

निन्दा जन्य दुःख के त्याग का उपाय

हे मनः ! निन्दा के दुःख का भी त्याग कर। निन्दा का स्वरूप यह है कि अपने में दोष हो अथवा न हो तो भी दूसरे पुरुष के पास जो परोक्ष में दोष का कोई कथन करे उसके श्रवण से दुःख होता है। इसका भी त्याग कर। किस साधन से ? इस विचार से कि निन्दा के अयोग्य तथा सर्वदा पूज्य देवता और मुनि आदिकों की निन्दा-कथा के संस्कारों से अर्थात् अवतार आदिकों की भी निन्दा पुरुषों ने की है तो हम किस गिनती में हैं। इस प्रकार के संस्कारों से निन्दा के दुःख का त्याग कर।

"मुनिभि" यहां तृतीया विभक्ति षष्ठि के अर्थ में है ॥ (संस्मृते:" पाठ होने से यह अर्थ होगा कि अवतार आदिकों को निन्दा की कथा की स्मृति से अपनी निन्दा के दु:ख का त्याग कर ।)

निद्राँ सात्त्विकवस्तुसेवनतया स्वप्नं सदाजागरात्
रोगाञ्जीर्णमिताशनाज्जहि सदा दैन्यंमहाधैर्यतः
अर्थानर्थपरिग्रहं त्यज वृथासंसर्गसंत्यागतः ।
स्त्रीवाञ्छांत्यजदोषदर्शनबलाद्दुःखंसुखात्मेक्षणात् ।४

अन्वय:—(हे मन:) सात्विक-वस्तु-सेवनतया (सात्विक पदार्थों के सेवन से) निद्रां (अधिक निद्रा को), सदा (सर्वदा) जागरात् (जागरण से) स्वपनं (स्वपन को), जीर्ण-मित-अशनात् (शीघ्र पचने वाले परिमित पवित्र भोजन से) रोगान् (रोगों को), महा-धैर्यत: (दढ़ धीरज से) दैन्य (मन की विषयों में पर-वशता को) सदा (सर्वदा) जहि (त्याग कर) । वृथा-संसर्ग संत्यागत: (तथा धन और धनियों का संबन्ध व्यर्थ जान कर त्यागने से) अर्थ अनर्थ-परिग्रहं (अनर्थरूप धन संग्रह को) त्यज (त्याग कर) दोष-दर्शन-बलात्(दोषदृष्टि के बल से)स्त्री-वाञ्छाँ (स्त्री की इच्छा को) त्यज (त्याग कर), सुख-आत्मेक्षणात्(तथा सुखस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार से) दु:खं (शोकादि दु:खों को भी त्याग कर) ॥४॥

❀ निद्राजय के उपाय ❀

हे मनः ! निद्रा का त्याग कर । सर्व वृत्तियों के अभाव की कारण, सत्व की आच्छादक, और तमोगुण को विषय करने वाली जो वृत्ति वह निद्रा है इसका त्याग कर । भाव यह कि आवश्यक निद्रा जो शरीर की रक्षा और श्रम दूर करने के लिए अपेक्षित है । तिस से अधिक निद्रा का त्याग कर । किस साधन से ? सात्विक वस्तुओं के सेवन से, सात्विक अन्न के सेवन से, इसके अतिरिक्त शास्त्र, जल, पुरुष, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार यह दश वस्तु भी सात्विक, राजस और तामस होती हैं । इनमें से राजस और तामस को निवारण करके सात्विकों का सेवन करके निद्रा का त्याग कर ।

❀ स्वप्न जय का उपाय ❀

हे मनः ! स्वप्न का भी त्याग कर । किस साधन से ? सदा जागरण से । भाव यह कि निद्रा दो प्रकार की है । एक स्वप्न दूसरी सुषुप्ति ! इनमें से जब अन्न के रस से नाड़ी पूर्ण रहती है तो गाढ़ निद्रा से सुषुप्ति होती हैं और जब अन्नरस का पाक हो जाता हैं तब नाड़ी में अवकाश होने से पूर्व के संस्कारों से मन फुरता है उसको स्वप्न कहते हैं । इस स्वप्न का हे मनः ! त्याग कर ।

अर्थात् जब गाढ़ निद्रा आवे तब सोना और जब निद्रा टूटे तो जाग्रत् होकर सावधान हो जाना। इस तरह से स्वप्न का त्याग कर।

अथवा तत्त्वाग्रहण रूप निद्रा है और अन्यथाग्रहण स्वप्न है इन दोनों का त्याग कर। किस साधन से ? कि सत्त्वगुण का कार्य ज्ञान जो सात्विक ज्ञान है तिसका विषय वस्तु जो आत्मा से अभिन्न ब्रह्म उसके चिन्तनरूप निरन्तर सेवन से तत्त्वाग्रहण रूप निद्रा त्याग कर। और इस ज्ञान रूप जाग्रत में सर्वदा तत्पर रहने से अन्यथा ग्रहण रूप स्वप्न का त्याग कर ॥

❀ रोग निवृत्ति का उपाय ❀

हे मनः ! रोगों का भी त्याग कर। रोग दो प्रकार से उत्पन्न होता है। एक प्रामादिक दूसरा कर्मज। प्रामादिक रोग वह है जो खान-पान आदि के प्रमाद या मध्यम प्रारब्ध कर्म द्वारा उत्पन्न हो और जो रोग खान पान आदि के प्रमाद न होने पर भी अवश्य आ जावे और प्रतीकार के करने पर भी दूर न हो वह कर्मज तीव्र प्रारब्धजन्य है। उसका क्षय तो भोग से ही है और कोई प्रतीकार नहीं। परन्तु प्रामादिक रोग का प्रतीकार यह है कि जीर्ण, मित अशन से अर्थात् जो परिमित अन्न खाने पर परिपक्व होकर जीर्ण हो अर्थात् जो न थोड़ा खाया

जावे न बहुत । थोड़ा खाया हुआ शरीर की रक्षा नहीं करता, निर्बल कर देता है और बहुत खाया हुआ रोग उत्पन्न करता है, इस वास्ते हे मनः ! हित, मित और पवित्र अन्न जो जीर्ण हो जावे । जैसा कि श्रीमद्भगवत्गीता के सप्तदशअध्याय के आठवें श्लोक में श्री भगवान् ने सात्त्विक अन्न कहा है कि आयु, सत्वगुण, बल, आरोग्यता, सुख और प्रसन्नता का वर्धक हो । रस युक्त स्निग्ध और स्थिर होवे । ऐसे अन्न के सेवन से रोगों का त्याग कर तथा छठे अध्याय में कथन किया है "युक्ताहारविहारस्य" इस श्लोक के अनुसार अन्न के सेवन से रोग रूप दुःखों को निवृत्त कर ।

❀ दीनता त्याग का उपाय ❀

हे मनः ! दीनता का त्याग कर । दीनता का अर्थ यह है कि विषयों के समीप आते ही मन का उन के वशीभूत हो जाना । इस दुर्वासना को धैर्य से त्याग कर । धैर्य का अर्थ यह है कि विषयों की तरफ गिरते हुए मन को दृढ़ता से रोकना । जैसे गिरते हुए मकान को स्तम्भ से रोक लिया जाता है इसी तरह विषयों में परवश होते हुए मन को अधिक और प्रबल धैर्य वाली वृत्ति से विषयों से रोकना । इस साधन से हे मनः । दीनता का त्याग कर । अथवा किसी पदार्थ की इच्छा से जो धनी पुरुष

या राजा लोगों के पराधीन होकर याचना करना रूप जो दीनता है उस को धीरज के बल से रोक दे।

✿ अर्थ संग्रह त्याग ✿

हे मनः ! अर्थ जो धनादिक हैं। यह अनर्थ रूप हैं इनके संग्रह का त्याग कर। क्योंकि इनका संग्रह व्यर्थ है। जैसे सैकड़ों गौ और भैंसों के होते हुए भी पुरुष के अपने प्रयोजन में केवल सेर भर दूध ही आता है शेष दूसरों के लिए है और धान गेहूँ आदि अनाज के सैकड़ों मनों पास भी हों तो भी पुरुष को अपने लिये आधा सेर ही पर्याप्त है। जैसे सैकड़ों मकानों के होते हुए भी पुरुष के अपने लिये आधी खाट की जगह काफी है बाकी व्यर्थ है। इसी तरह पदार्थों का संग्रह व्यर्थ है। सोना, चाँदी आदि धन तो खाने के काम भी नहीं आता। इस वास्ते भी सर्वथा व्यर्थ है, प्रत्युत अनर्थ रूप है। धन के सम्पादन करने तथा रक्षा आदि करने में पन्द्रह अनर्थ सर्वदा रहते हैं। चोरी, हिंसा, झूठ, कपट, काम क्रोध, अभिमान, मद, फूट, वैर, अविश्वास, संस्पर्धा, परस्त्री-व्यसन, द्यूतव्यसन और मदिरापानव्यसन। इस प्रकार अर्थों के संग्रह को अनर्थ रूप और व्यर्थ समझ कर इनके सम्बन्ध और इनके संग्रह करने वाले धनी पुरुषों के सम्बन्ध को सर्वथा त्याग कर। स्मृति में भी कहा है कि

धन, वस्त्र, स्त्री, भोज्य आदि पदार्थों की समीपता से सत्पुरुषों का चित्त भी चलायमान हो जाता है। इस वास्ते इनकी समीपता को भी दोष रूप जान कर धन आदि का दूर से त्याग कर।

❋ स्त्री वाञ्छा त्याग ❋

हे मनः ! स्त्री की वाञ्छा को भी त्याग दे। किस साधन से ? दोष दर्शन के बल से। अर्थात् स्त्री के शरीर में अस्थि, रुधिर, मांस, मज्जा पुरीष मूत्रादिक मलिन वस्तुएं जो घृणा की आस्पद हैं इनका ही बना हुआ है तथा जन्म और नाशशील हैं इन दोषों के देखने के बल से स्त्री की वाञ्छा का हे मनः ! त्याग कर।

❋ दुःख त्याग का उपाय ❋

हे मनः ! दुःखों का भी त्याग कर। किस साधन से ? सुखरूप आत्मा के दर्शन से। दुःख दो प्रकार का है। एक तो कर्मजन्य रोग दरिद्र आदि, दूसरा मोहजन्य चिन्ता शोक आदि। रोग आदि तो कर्म का फल होने से अनिवार्य है। दूसरे चिन्ता शोक आदि मानसिक दुःखों को सुखस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार से त्याग दे। जैसे श्रुति कहती है—'आत्मवेत्ता शोक से तर जाता है' ॥ ४ ॥

दारा संक्तिमनादरात्सुतधनासक्ति त्वनित्यत्वतः

स्नेहं मोहविसर्जनात्करुणया नैष्ठुर्यमन्तस्त्यज ।
औदासीन्यसमाश्रयात्त्यज सुहृन्मित्रारिदुर्वासनाम्
सर्वानर्थकरान्दशेन्द्रियरिपूनेकान्तवासाज्जहि॥५॥

अन्वयः-(हे मनः) अनादरात् (मोह पूर्वक सत्कार के त्याग से) दार-आसक्तिं (स्त्री में प्रीति को), तु (और) अनित्यत्वतः (अनित्य बुद्धि से) सुत-धन-आसक्तिं (पुत्र धनादि की आसक्ति को), मोह-विसर्जनात्-स्नेहँ (कुटुम्बादि में अविवेक से उत्पन्न स्नेह को विचार से) त्यज (त्याग कर)। नैष्ठुर्यं (निष्ठुर भाव को) अतः (अंतः करण से) त्यज (त्याग कर)। औदासीन्य समाश्रयात् (उदासीनता को आश्रय करके) सुहृत-मित्र-अरि-दुर्वासनां (सुहृत् मित्र शत्रु ऐसी विषम बुद्धि को) त्यज (त्याग कर)। एकान्त-वासात्(एकान्त देश के सेवन से)सर्व-अनर्थकरान् दश-इन्द्रिय-रिपून् (सर्वानर्थकारी दश इन्द्रियों को) जहि (त्याग कर अर्थात् जीत लें) ॥५॥

❀ स्त्री पुत्र धनादि में प्रीति त्याग ❀

हे मनः! दार अर्थात् स्त्री की आसक्ति कहिये प्रीति का त्याग कर। किस साधन से? अनादर से अर्थात् स्त्री में आदर सत्कार के त्याग से। भाव यह कि बाहिर से स्वांगानुसार व्यवहार करते हुए भी मन से दोष दर्शन द्वारा घृणा का ही भाव कर। तथा पुत्र धन आदिक में आसक्ति को भी त्याग कर। यहां 'तु' शब्द 'च' अर्थ में है। भाव यह कि दारा में अनित्यता का

समुच्चय करने के लिये है और पुत्र धन आदि में भी आदर का परित्याग करने से तथा अनित्यता के निश्चय करने से आसक्ति का परित्याग कर। अनित्यता कहिए नित्य नहीं रहेंगे! विनाशी हैं और मृत्यु के अधीन हैं इसलिए इनकी प्रीति का त्याग कर। हे मनः! अपने कुटुम्ब में जो स्नेह है उसको त्याग दे। किस हेतु से? मोह के विसर्जन से। मोह नाम अविवेक का है। इस अविवेक से कुटुम्ब में, स्त्री में और अपने शरीर में जो स्नेह है विवेक विचार द्वारा त्याग कर।

❃ कठोरता त्याग का उपाय ❃

हे मन! निष्ठुरता अर्थात् कठोरता को अन्तःकरण से त्याग कर। कठोरता का अर्थ यह है कि दूसरों को दुःख देते हुए या उनको दुःखी देखते हुए भी चित्त का पाषाण के सदृश कठोर बना रहना—द्रवीभूत न होना। इस दोष को अन्तःकरण से करुणा रूप दया द्वारा त्याग दे। अर्थात् सर्व जीवों के दुःखों को देख कर चित्त ऐसा द्रवीभूत होवे जैसा अपने दुःख में और स्त्री पुत्र आदि के दुःख में द्रवीभूत होता है ऐसी करुणा से निष्ठुरता का त्याग कर। शास्त्र में भी लिखा है कि जिस पुरुष का चित्त सर्व जीवों पर करुणा करके द्रवीभूत रहता है उसको जटाभस्म आदि और साधनों से क्या प्रयोजन है। वह धन्य

हैं और वही पुण्यवान् है ।

❀ शत्रु मित्र में समबुद्धि रखने का उपाय ❀

हे मनः ! 'यह सुहृद् है, यह मित्र है, यह शत्रु है, इस विषम बुद्धिरूप दुर्वासना का त्याग कर । अर्थात् प्रत्युपकार रहित उपकार करने वाले सुहृद, उपकार की अपेक्षा उपकार करने वाले मित्र और अपकार करने वाले शत्रु में जो विषमता की बुद्धि है वह त्याग कर । किस साधन से ? उदासीनता के सम्यक् आश्रयण से । अर्थात् मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष दोनों में समभाव से रहे । मित्र में राग न कर और शत्रु में द्वेष न कर । इस तरह सम बुद्धि से विषमता का त्याग कर । भाव यह है कि सब में ब्रह्म दृष्टि से विषमता दूर हो जावेगी ।

❀ इन्द्रिय दमन का उपाय ❀

हे मनः ! पंच ज्ञानेन्द्रियां और पंच कर्मेन्द्रियाँ यह दशों इन्द्रियाँ सर्व अनर्थ के करने वाली हैं अर्थात् लोक परलोक से भ्रष्ट करने वाली साधक की परम शत्रु हैं । एकान्त निवास से इनका त्याग कर । अर्थात् शुद्ध और एकान्त देश में निवास करने से अभ्यास में बाधा डालने वाले आकर्षक विषयों के समीप न होने से इन्द्रियों में लोलुपपना नहीं रहेगा । यही इनका त्याग है । जैसे जंगल में जाते हुए एक धनी पुरुष के सामने ग्यारह डाकू आ

जावें, तब वह धनी पुरुष उनमें फूट डाल कर दशों को अलग कर देवे। फिर एक के साथ झगड़ा करके उसको दबा सकता है। ग्यारह व्यक्तियों के साथ लड़ाई करने से स्वयं अकेला होने के कारण मारा जाना अवश्य है। इस तरह यह दश इन्द्रियां और एक मन साधक के आत्म-धन को चुराने वाले हैं। इन इन्द्रियों के विषयों से अपने को अलग करने से और नित्य ही एकान्त सेवन करने से दश विषयों के अभाव से इन्द्रियां निर्बल हो जायेंगी। बाकी रहा मन उसको साधक विवेक-विचार वाली बुद्धि से दबाकर जीत लेगा। इस प्रकार एकान्त वास से दश इन्द्रियों का त्याग कर। विषयों के त्याग से ही इन्द्रियों का त्याग होता है ॥५॥

आलस्यं त्वरया श्रमंशमधियातन्द्रिं समुत्थानतो-
भेदभ्रांतिमभेददर्शनबलान्मिथ्यात्वतः सत्यताम्।
मर्मोक्तिंनिजमर्मकर्मकथयाक्रोधं स्वसाम्येक्षणात्
आक्रोशं कुशलोक्तितस्त्यजमनश्छिंध्यप्रमादाद्
भयम्।६।

अन्वयः—मनः (हे मनः) त्वरया (शीघ्रता से) आलस्यं आलस्य को), शम-धिया (मन निरोध रूप वृत्ति से) श्रमं (विक्षेपक कर्मों में परिश्रम को), समुत्थानतः (समाधान वृत्ति से)

तन्द्रिं (तन्द्रा को), अभेद-दर्शन-बलात् (अद्वैत आत्म ज्ञान के बल से) भेदभ्रांतिं (सर्व भेद भ्रमों को), मिथ्यात्वत: (जगत्-मिथ्यात्वबुद्धि से) सत्यतां (जगत सत्यत्व बुद्धि को) निज-मर्म-कर्म-कथया (छिपे हुए अपने दोष और अशुभ कर्मों के कथन से) मर्मोक्तिं (दूसरे को दुःख देने वाले मर्म भेदी वाक्य कथन करने के अभ्यास को), स्व-साम्य-ईक्षणात् (सर्वत्र एक आत्म दर्शन से) क्रोधं (क्रोध को), कुशल-उक्तितः (मधुर हितकारी वचनों के कथन से) आक्रोशं (अपराधी को फटकारना) त्यज (त्याग कर)। भयम् (शत्रु भय, लोक लज्जा का भय तथा मृत्यु का भय सर्व भयों को) अप्रमादात् (साधन सम्पन्न हो कर ज्ञान प्राप्ति से) छिन्धि (छेदन कर अर्थात् दूर कर) ।।६।।

❀ आलस्य त्याग का उपाय ❀

हे मनः। आलस्य का त्याग कर। आलस्य का अर्थ यह है कि चित्त का अथवा शरीर का भारीपन होने से अवश्य-कर्तव्य में भी अप्रवृत्ति। चित्त का भारीपन तमोगुण से और शरीर का भारीपन कफ आदिकों से होता है। अथवा स्वल्प समय में करने योग्य कार्य को बहुत समय लगा देना, यह भी आलस्य है इसका त्याग कर। किस साधन से? त्वरया अर्थात् शीघ्रता से। भाव यह कि मन में ऐसा दृढ़ निश्चय कर कि अवश्य-कर्तव्य कार्य को तुरन्त करना है, उसमें विलम्ब नहीं लगाना। ऐसा निश्चय करके कार्य में तत्पर हो जाना। इस प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति को हे मनः। सम्पादन कर। इसका

भाव यह है कि ज्ञान के साधनों में अथवा उपासना या पुण्य कर्म करने में विलम्ब न कर। विलम्ब करने पर विघ्न पड़ जाने से साधन छूट जाएगा। इस वास्ते सावधान होकर शीघ्रता का सम्पादन कर।

साथ ही यह भी है कि दूसरे की हानि करने में, पाप करने में तथा शास्त्रनिषिद्ध कार्य करने में आलस्य करना ही श्रेष्ठ है अर्थात् चिरकारीपना ही इन पाप कर्मों में श्रेष्ठ है। क्योंकि विघ्न के होने से पाप से निवृत्त भी हो सकता है। शुभ कार्य में तो हे मनः शीघ्रता ही कर और आलस्य का त्याग कर।

❀विक्षेपक कर्मों में परिश्रम का त्याग❀

हे मनः। श्रम को त्याग कर। भाव यह कि लौकिक और वैदिक व्यवहारों से शरीर, इन्द्रिय और मन में परिश्रम थकावट होती है अर्थात् विक्षेप प्राप्त होता है। इसको शम बुद्धि से अर्थात् लौकिक वैदिक व्यवहारों के त्याग-पूर्वक मनोनिरोध रूप शम वृत्ति से त्याग कर। जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में कहा है—कि योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले साधक को कर्म कारण कहा गया है और योगारूढ़ के लिये उसी योग में स्थिति के लिए शम ही कारण है। इस तरह शम—मन को शान्ति से परिश्रम का हे मनः। त्याग कर।

❀ तन्द्रा त्याग का उपाय ❀

हे मनः। तन्द्रा का त्याग कर। तन्द्रा उस अवस्था को कहते हैं जब मन निद्रा में भी न हो और जाग्रत में भी सावधान न हो अर्थात् जैसे पुस्तक के श्रवण करने पर भी शब्दार्थ को मन स्वस्थ हो कर ग्रहण नहीं करता है। शिर नीचे-ऊपर गिरता रहता है। अर्थात् अर्ध निद्रा की अवस्था का नाम तन्द्रा है। हे मनः। इसका त्याग कर। किस हेतु से ? समुत्थानता से अर्थात् उठ खड़े होने से या सावधान हो कर बैठने से। अथवा थोड़ा-थोड़ा चल पड़ने से और जल से नेत्र एवं मुख धोने से। इस तरह सावधान हो कर हे मनः। तन्द्रा का त्याग कर।

❀ भेद भ्रान्ति त्याग का साधन ❀

भेद-भ्रान्ति अर्थात् भेदभ्रम को त्याग कर। सजातीय विजातीय और स्वगत भेद के भ्रम का त्याग कर। जैसे एक ब्राह्मण का दूसरे ब्राह्मण से सजातीय भेद है। क्षत्रिय आदि के साथ विजातीय भेद है। और अपने हस्तपादादि के साथ स्वगत भेद है। इस तरह आत्मा का सजातीय भेद कि आत्मा नाना हैं इस सजातीय भेद भ्रम को त्याग कर। आत्मा से विजातीय आकाशादि जड़ प्रपञ्च सत्य है इस विजातीय भेद को भी त्याग कर। और आत्मा के अवयवों का अभाव होने से उस में स्वगत

भेद भी नहीं है। 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् आत्मा निश्चय ही एक अखण्डानन्द अद्वितीय रूप है उनमें भेद नहीं इस अभेद दर्शन के बल से भेद भ्रान्ति को हे मनः ! त्याग दे।

अथवा भेद पाँच प्रकार का होता है (१) जीव ईश्वर का भेद (२) जीवों का परस्पर भेद (३) जीव जड़ का भेद [४] जड़ों का परस्पर भेद [५] ईश्वर जड़ का भेद। इस भेद भ्रान्ति का त्याग दे। किस साधन से ? अभेद दर्शन से। जैसे एक बड़े मकान में एक पुरुष स्थित है और चारों तरफ दीवारों में दर्पण लगे हुए हैं, उन सब दर्पणों में पुरुष का प्रतिबिंब पड़ रहा है। इस अवस्था में पुरुष से प्रतिबिंबों का भेद मिथ्या है और परस्पर प्रति-बिंबों का भेद भी मिथ्या है। भेद है नहीं एक अद्वितीय पुरुष ही है, उससे भिन्न और कुछ है ही नहीं। सर्वथा अभेद है। इस तरह अभेद दर्शन के बल से पांचों प्रकार के भेद-भ्रम का त्याग कर। अर्थात् सर्वत्र सर्व में सत्ता स्फूर्ति अद्वय आनन्द रूप अधिष्ठान ब्रह्म ही है और सब इसमें कल्पित है। इस विचार से भेद भ्रान्ति का त्याग कर।

❀ भेद की बाधक तथा अभेद की साधक युक्तियां ❀

भ्रम—भ्रान्ति भी पांच प्रकार की है।

दोहा–भेद भरम कर्तृत्व भरम पुनः संग भ्रम विकार।
ब्रह्म इतर जग सत भरम पांच भरम निर्धार ।।

[१]भेद भ्रम [२]कर्तृत्व भ्रम[३] संग भ्रम[४]विकार भ्रम [५] ब्रह्म से भिन्न जगत् सत्यभ्रम। भेद भ्रम तो ऊपर कथन कर दिया गया है। बाकी कर्तृत्व भ्रम, कि मैं कर्मों का करता हूं और संगभ्रम कि आत्मा और अनात्मा देह आदि के सम्बन्ध का भ्रम, और विकार भ्रम अर्थात् कार्य कारण का भ्रम कि जगत् कार्य है और ब्रह्म कारण है और ब्रह्म से भिन्नजगत् सत्यत्व भ्रम यह पाँच भ्रम हैं, इन को निवारण कर। किस हेतु से?

दोहा–बिंब प्रतिबिंब लोहित स्फटिक, घटाकाश गुणभार।
कनक कुण्डल दृष्टान्त दे, पाञ्चों भरम निवार।

(१) भेद भ्रान्ति के निवारण करने का उपाय ऊपर कथन किये हुए बिंब प्रतिबिंब के दृष्टान्त द्वारा कथन कर दिया गया है। (२) दूसरे कर्तृत्व भ्रम के दूर करने के लिए लोहित स्फटिक का दृष्टांत है। वास्तव में देहादि अहंकार पर्यन्त ही कर्म करते हैं आत्मा में कर्तापने का भ्रम है। जैसे लालीलाल फूल में है उसकी सन्निधि से स्फटिक में प्रतीत होती है। स्फटिक में लाली का भ्रम है। वस्तुतः है नहीं। तैसे आत्मा में कर्तृत्व का भ्रम है कर्तृत्व है नहीं। [३] तीसरा संग भ्रम अर्थात् आत्मा अनात्मा में

कल्पित तादात्म्य संबन्ध जो माना जाता है सो भ्रम है। उसको घटाकाश के दृष्टांत से वारण करते हैं जैसे घट और आकाश का सम्बन्ध भ्रम रूप है। सम्बन्ध है ही नहीं। अर्थात् आकाश को निरवयव होने से घट और आकाश का संयोग सम्बन्ध नहीं बन सकता। और न ही तादात्म्य और समवाय ही बन सकते हैं। घट सावयव है। आकाश निरवयव है। घट परिच्छिन्न है आकाश व्यापक है। इस तरह कोई सम्बन्ध नहीं बनता सम्बन्ध का भ्रम है। [४] चौथा कार्य कारण का भी भ्रम है। वास्तव में कार्य-कारणपना भी नहीं है। जैसे रज्जु और सर्प कार्य-कारण भाव नहीं है। सर्प कल्पित है रज्जु अधिष्ठान है। रज्जु से सर्प कोई उत्पन्न नहीं हुआ। भ्रम से प्रतीत होता है तैसे ही जगत् आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ भ्रम से प्रतीत होता है।

[५] पाँचवां भ्रम ग्रन्थकार स्वयं कह रहे हैं कि हे मन: ! जगत् की सत्यता के भ्रम को त्याग कर। किस साधन से ? मिथ्यापने के बोध से ! यह प्रपञ्च मिथ्या है, जैसे स्वर्ण में कुण्डल आदि भूषण वस्तुत: हैं नहीं भ्रान्ति से माने जाते हैं। कुण्डल आदि का गुरुत्व, रूप स्पर्श आदि कुछ भी नहीं हैं। किन्तु केवल स्वर्णमात्र ही है। इसी तरह केवल आत्ममात्र ही है जगत् कुछ है नहीं,

वाणी का विलास है। इस प्रकार जगत को सत्यता के भ्रम को हे मनः त्याग कर।

❀ दुःखद मर्मोक्ति त्याग का उपाय ❀

हे मनः! मर्मोक्ति का त्याग कर। 'मर्म' शब्द का अर्थ यह है कि जैसे अस्थियों के सन्धि स्थान हैं, वहां चोट लगने पर बहुत व्यथा होती है वैसे ही छिपे हुए दोष थोड़े हों अथवा बहुत, अथवा न होने पर भी यदि सम्मुख में कोई वह दोष कथन करे तो उनके श्रवण से अन्तःकरण में बहुत व्यथा होती है। जैसे कहा भी है कि वाग्बाण मुख से निकलता है। उससे ताड़ित हुआ व्यक्ति रात दिन शोक चिन्ता में ग्रस्त रहता है। मानो यह मर्म स्थान में चोट लगती है। इस वास्ते विचारवान पुरुष मर्मोक्ति का त्याग करे। किस साधन से? यह विचारवान् पुरुष अपने मर्म और कर्म की कथा से अर्थात जो दूसरे का मर्म वचन कहते हैं अपने मर्म और गुह्य कर्म विचार करके दूसरों के आगे कथन करे। इससे दूसरों की मर्म उक्ति का व्यसन छूट जायेगा। भाव यह है कि अपने छिपे हुये शुभ गुण और शुभ कर्म कथन न करे प्रत्युत छिपे हुये अपने दोष और अशुभ कर्मों का कथन करे। कथन करने से वह निकल जावेंगे!

अपने और पराये गुण दोषों का यह स्वभाव है कि

जो कोई अपने गुण या दोष देखेगा तो वह निकल जायेंगे और दूसरों के गुण या दोष देखेगा तो वह अपने में आवेंगे। हर एक व्यक्ति के कन्धे पर अपने गुणों का थैला आगे है और दोषों का थैला पीठ पर है। इसलिए अपने गुण हर एक व्यक्ति अपने सम्मुख देखता है। दोष पीछे होने से नहीं दीखते हैं। और दूसरे के दोष उसकी पीठ पर होने से पीछे रहने वाले व्यक्ति को स्पष्ट दीखते हैं। उसको गुण नहीं दीखते। इस वास्ते हे मनः! अपने ही दोषों को देख। दूसरे के दोषों को मत देख। अपने गुणों को न देख दूसरे के गुणों को देख। इस तरह मर्म उक्ति का त्याग कर।

❀ क्रोध त्याग का उपाय ❀

हे मनः! क्रोध का त्याग कर। क्रोध का स्वरूप और उसके निवारण का साधन क्षमा दूसरे श्लोक की व्याख्या में कथन किया जा चुका है। फिर भी दूसरा साधन कहते हैं—'स्वसाम्येक्षणात्' अर्थात् स्व समता के दर्शन से। शत्रु बन्धु और स्वदेह में एक आत्मा के दर्शन करने वाले विवेकी पुरुष को क्रोध कैसे होगा अर्थात् नहीं होगा। जैसे अपने अवयवों में क्रोध नहीं होता। किसी कवि ने कहा है—

दोहा—मुख धोवत जो आँगुरी, लोचन में धस जाय।
ताँ को काट न डारिये, सुनो सुजन चित लाय।
जिहवा टूक दाँत लग जाये। ताँको काऊ भन्न न पाये।
तैसे ज्ञान कहानी भाई। सब में एको रह्या समाई।
जे कोई कहना [illegible] न लेवे। तब ओह ज्ञान पूरा हद सेवे।

❀ आक्रोश त्याग का उपाय ❀

हे मनः ! आक्रोश का त्याग कर । आक्रोश का अर्थ अपराधी को फटकारना है । उसका त्याग कर । किस साधन से ? कुशल वचनों के कथन से । अर्थात् सुशीलता पूर्वक मधुर हितकारी वचन के कथन से भाव यह कि ऐसा निश्चय पहले ही मन में होना कि अपराधी को किसी अवस्था में भी हमने नहीं फटकारना है, उससे मधुर भाषण ही करना है । ऐसे निश्चयपूर्वक मधुर भाषण से आक्रोश न को त्याग कर । अथवा कुशल शब्द का अर्थ जो सुशीलता पूर्वक मधुर हितकारी वचन कथन करने वाले कुशल पुरुष हैं उनकी उक्ति से अर्थात् उनके कथन को स्मरण करके किसी को भी फटकारने का त्याग कर । जैसे भृगु ऋषि के अपराध करने पर भगवान् विष्णु के वचनों को स्मरण करके अथवा कैकेयी के अपराध करने पर भगवान् राम के वचनों को स्मरण करके और विश्वामित्र के अपराध करने पर भगवान् वसिष्ठ के वचनों को स्मरण करके आक्रोश का त्याग कर ।

❀ भय तथा लोक लज्जा त्याग का उपाय ❀

हे मनः ! भय का अप्रमाद से छेदन कर । भय का अर्थ जो मोक्ष मार्ग में चलने से एकान्त सेवन करने पर चोर, शत्रु, सर्प, व्याघ्रादि का भय और लौकिक लज्जा आदि का भय इसका त्याग कर । किस साधन से? अप्रमाद से । अर्थात् सर्व प्रकार सावधान रहने से एकान्त में भय नहीं होता और सावधान रहने से लोक लज्जा का भय

भी नहीं रहता ।

अथवा भय का अर्थ जो मृत्यु और दुःखो का भय है मनः ! उसका छेदन कर । किस साधन से ? अप्रमाद से अर्थात् ज्ञान के साधनों द्वारा ज्ञान को प्राप्त करके मृत्यु और दुःखों के भय को दूर कर । भाव यह कि जैसे सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र को कहा है कि प्रमाद को ही मैं मृत्यु कहता हूं और अप्रमाद को अमृत कहता हूं । अर्थात् प्रमाद है ब्रह्मात्मा स्वरूप से प्रच्युति रूप अज्ञान उसको मृत्यु कहा जाता है । मरण का हेतु भी यही है और इस अज्ञान से ही द्वैतभाव की भ्रान्ति द्वारा भय होता है । हे मनः ! अप्रमाद से इसका छेदन कर अर्थात् अमृतरूप जो मोक्ष है उसका हेतु ज्ञान है । ज्ञान से ही अमृत होता है और अमृतत्व ही भय से रहित है । जैसे 'हे जनक तू अभय को प्राप्त हुआ है' । सर्वथा भय की निवृति मोक्ष में ही होवे है । इसलिये मोक्ष को प्राप्त करके सर्वथा भय का छेदन कर ॥६॥

भूतार्थस्मरणं वृथाश्रमधिया प्राप्तं तु हानेक्षणात्
भव्यार्थव्यसनसदात्यजमनःप्रारब्धचोद्येक्षणात् ।
शिष्टाशिष्टजनक्रियां त्यज वृथाकष्टानुसन्धानतः
स्नेहादूद्वेषमपिसदात्यजजनंभस्मान्ततासंस्कृतेः†॥७॥

अन्वयः—मनः (हे मनः) वृथा-श्रम-धिया (व्यर्थ परिश्रम बुद्धि से) भूत-अर्थ-स्मरण (अतीत विषयों के स्मरण को) हान-ईक्षणात् (नाश दर्शन से) प्राप्त(वर्तमान विषयो के चिन्तन को)

---

† यहां पर 'संस्कृते' पाठ भी हो सकता है ।

प्रारब्ध-चोद्य-ईक्षणात् (प्रारब्ध प्रेरित वस्तु ही मिलती है ऐसे देखने से) भव्य-अर्थ-व्यसन (भावि पदार्थों के चिन्तन रूप व्यसन को), सदा (सर्वदा) त्यज (त्याग कर)। वृथा-कष्ट-अनुसंधानत: (यह व्यर्थ दु:खभलप्रद है, ऐसे चिन्तन से) शिष्ट-अशिष्ट-जन क्रिया(सकाम तथा निषिद्ध कर्मों का) त्यज (त्याग कर)। स्नेहात् (प्रेमपूर्वक शुभ चिन्तन से) द्वेष-मतिं (अपराधी पर हानि करने की इच्छा का) (तथा) भस्म-अन्तत: संस्कृते: (सर्व शरीरों का भस्म तक पर्यवसान हैं, ऐसे सम्यक स्मरण करने से) जन (सर्व शरीरों में अथवा जन समुदाय मे आसक्ति को सदा (सर्वदा) त्यज (त्याग कर) ॥७॥

❋ विगत वस्तु के स्मरण का त्याग ❋

हे मनः ! भूतार्थ के स्मरण का त्याग कर अर्थात् भूत कहिये अतीतकाल और उसमें होने वाले अर्थ–पदार्थ तिन के स्मरण को त्याग कर। किस साधन से ? प्रथम तो उनका स्मरण ही व्यर्थ है। जैसे कहा है–'प्रीति न साथ व्यतीत भली कछु हाथ मिलि न यथा स्वप्ना'। जैसे स्वप्न के पदार्थ स्मरण करने से कुछ फल नहीं है। व्यर्थ ही उनका स्मरण है। वैसे ही अतीत काल के पदार्थों का स्मरण व्यर्थ है, उससे कुछ फल सिद्ध नहीं होता।

दूसरा साधन श्रमबुद्धि करके भूतार्थ के स्मरण का त्याग कर। अर्थात् इनके स्मरण से परिश्रम होता है। भाव यह है कि स्मरण दो प्रकार का होता है। एक तीव्रसम्बन्ध का स्मरण है। जैसे स्त्री के स्मरण से काम उदय होता है और शत्रु के स्मरण से क्रोध उदय होता है धन के स्मरण से लोभ का उदय होता है और पुत्रादि के स्मरण

से मोह का उदय होता है। इसी तरह ईर्ष्या असूया आदिकों के हेतु चिन्तन से ईर्ष्या असूया आदि उत्पन्न होते हैं। यह महान् अनर्थ का हेतु ताप-रूपअति परिश्रम रूप है। इस से कुछ सिद्ध नहीं होता। इसलिए हे मनः! इस परिश्रम को तापरूप निश्चय करके भूतार्थ के स्मरण का त्याग कर। दूसरा मृत्सम्बन्ध का स्मरण है। जैसे घट, पट आदि का स्मरण। सो भी अभ्यास के वश से परिश्रम ज्ञात नहीं होता, परिश्रम का ही हेतु है। शान्त, शीतल और अनायास सुख से स्थिति का विरोधी है। इसका भी त्याग कर।

हे मनः! प्राप्त को अर्थात् वर्तमान काल और वर्तमान काल में प्राप्त पदार्थों के चिन्तन का भी त्याग कर। ('तु' शब्द भूतार्थ से विलक्षणता का द्योतक है)। किस साधन से? हानेक्षणात् अर्थात् वर्तमान काल से उत्तर काल में इन पदार्थों के नाश देखने से। तथा हे मनः! भविष्यत् काल और भविष्यत् कालिक पदार्थों के चिन्तन के व्यसन को सर्वदा त्याग दे। अर्थात् भविष्यत् के जो मनोराज्य के पदार्थ वह आकाश के पुष्प सदृश हैं। जैसे कहा भी है—'भावी के भाव अभाव यथा तिन में न रमो नप के सुमना।' उनका स्मरण कुछ लाभ का हेतु नहीं है। किस साधन से त्याग करें? 'प्रारब्धचोद्येक्षणात्'—भविष्यत् काल में प्राप्त होने वाले पदार्थ प्रारब्ध की प्रेरणा से प्राप्त होते हैं ऐसा देखने से। आचार्य ने

मन को भविष्यत् वस्तु के चिन्तन में अत्यन्त आसक्त होती है। अर्थात् भविष्यत् नगर में ही मन का निवास रहता है। इसलिए भविष्यत् चिन्तन के वारण में बहुत प्रयत्न चाहिए। जैसे द्यूत और सुरापान आदि व्यसन के वारण के लिए अत्यन्त प्रयत्न की अपेक्षा है। इसी प्रकार यहाँ भी जान लेना। भावार्थ यह है कि व्यतीत सुखादि के साथ पुरुष का वर्तमान काल में कुछ सम्बन्ध नहीं है। तथा भविष्यत् काल के सुखादि के साथ भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान तो क्षण मात्र ही में व्यतीत होता जाता है। वर्तमान काल की सिद्धि ही नहीं होती। इसलिए व्यर्थ ही भ्रान्ति से पदार्थों का स्मरण चिन्तन हो रहा है। वर्तमान काल का कार्य केवल इतना ही है कि भविष्यत् को भूत कर देना। जैसे गेहूं के एक ढेर को यदि मापना हो तो दूसरी तरफ उसी ढेर को माप कर रखने के लिए बीच में कोई काष्ठादि की निशानी सीमारूप से रख दी जाती है। वह बीच में सीमारूप कोई तीसरा ढेर नहीं है। केवल विभाग मात्र का चिन्ह है। तथा जैसे दो ग्रामों की सीमा कोई तीसरा ग्राम नहीं है। इस तरह भूत और भविष्यत काल से अतिरिक्त कोई तीसरा वर्तमान काल सिद्ध ही नहीं होता। यदि वर्तमान काल को क्षण-मात्र मान भी लिया जाए तो आधा क्षण भूत है और आधा भविष्यत् है। वर्तमान की सिद्धि ही नहीं होती और भविष्यत् का पहले ही अत्यन्ताभाव है। तथा इन

तीनों कालों और तिस २ काल के पदार्थों का परस्पर किसी का किसी के साथ सम्बन्ध भी नहीं है। मन ने ही भ्रान्ति से मिथ्या रूप सम्बन्ध जोड़ रखा है। इसलिए हे मनः! तीनों कालों तथा तीनों कालों में होने वाले पदार्थों के स्मरण चिन्तन का त्याग कर और आत्म चिन्तन कर।

❀ सकाम तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग ❀

हे मनः! शिष्टजनों करके करने योग्य लौकिक वैदिक सकाम कर्म और अशिष्ट जनों करके करने योग्य निषिद्ध कर्म इन दोनों को त्याग दे। 'शिष्ट' शब्द का अर्थ साङ्ग उपाङ्ग वेद के ज्ञान वाला, तथा वेद में आस्तिकता और वेदोक्त सकाम कर्म करने वाला है आर 'अशिष्ट का अर्थ वेद में आस्तिकता से रहित और निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति वाला पुरुष है। इन दोनों की क्रियाओं का त्याग कर।

भाव यह कि मनुष्य चार प्रकार के हैं। (१) पामर (२) विषयी (३) जिज्ञासु (४) ज्ञानी। अशिष्ट तो पामर हैं। और शिष्ट विषयी हैं। इन दोनों की क्रियाओं को त्याग दे। जिज्ञासु होकर श्रवणादि करके हे मनः! ज्ञान को प्राप्त कर। इन क्रियाओं में सर्वदा कष्टानुसंधान करने से इनका त्याग कर। 'कष्ट' का अर्थ-निषिद्ध कर्म तो साक्षात् नरक और पशु आदि योनियों का हेतु कष्ट रूप हैं ही, सकाम कर्मादि भी जन्म मरण के चक्कर में फेंकने वाले हैं। सो भी कष्ट रूप ही हैं। इस अनुसन्धान से शिष्टाशिष्टजन की क्रिया का त्याग कर।

❀ द्वेष त्याग का साधन ❀

हे मनः ! द्वेष वाली मति का भी त्याग कर । द्वेष सदा अपराधी पर होता है और उसकी हानि करने की इच्छा होती है । जिसके प्रति द्वेष की सम्भावना हो उस के प्रति द्वेष वाली मति को त्याग कर । किस हेतु से ? स्नेहात-प्रीती वाली मति से अर्थात उसका अनिष्ट चिन्तन न करके सर्वदा उसकी भलाई का ही चिन्तन करने से । इस तरह द्वेष वाली मति का हे मनः ! त्याग कर ।

❀ जन समुदाय में प्रीति का त्याग ❀

हे मनः ! जन समूह में आसक्ति का त्याग कर । 'जन' शब्द का अर्थ हैं जननधर्मा शरीर । (यहाँ जाति में एक वचन है) । अर्थ यह कि सर्व वहिर्मुख अध्यात्म शास्त्र के संस्कारों से शून्य जनों तथा अपने शरीर में भी आसक्ति का त्याग कर । किस साधन से ? भस्मान्तता संस्कृतेः' अर्थात जितने यह शरीर हैं अन्त में दाह करने से भस्मरूप हो जावेंगे । सर्व शरीरों की तीन ही गतियाँ हैं । (१) यदि किसी प्राणी ने खा लिया तो विष्ठा रूप हो जावेगा । (२) यदि अग्नि में दाह किया गया तो भस्म रूप हो जावेगा । (३) यदि ऐसे ही पड़ा रहा तो कीट समूह हो जावेगा । जब यही शरीरों का अन्त है तब प्रीति किस से और किस लिए करनी । अपने शरीर की भी यह गति है । इस वास्ते किसी में भी देहबुद्धि से प्रीति न कर । इस प्रकार के संस्कारों को दृढ़ करके हे मनः ! प्रीति का

ऊपर कथन किये गये दोषों की स्मृति द्वारा आसक्ति का त्याग कर ।७।

अध्यात्मादिभवं सदा त्यजमनस्तापं स्वभावेक्षणात्
वैषम्यं समभावतः परकथाविक्षेपमक्षोभतः ।
धिक्काराभिभवं तु दुःखमनिशं तद्योग्यताभावनात्
तज्ज्ञाऽज्ञशिशून्क्षमस्व कृपया कर्मक्षयात्ताडनम्

अन्वयः—मनः (हे मनः) स्व-भाव-ईक्षणात् । अपने स्वरूप के ज्ञान से) अध्यात्म-आदि-भवं (अध्यात्मादि दुःख में होने वाले) ताप (ताप को) सदा (सर्वदा) त्यज (त्याग कर) सम-भावतः (समरूप ब्रह्मभावना से) वैषम्यं (विषम पदार्थों में विषम बुद्धि को), अक्षोभतः (विचारादि द्वारा चित्त की गम्भीरता से) पर-कथा-विक्षेप दूसरों की कथा के विक्षेप का) तत्-योग्यता-भावनात् (अपने में धिक्कार की योग्यता है, इस भावना से) धिक्कार अभिभव(धिक्कार-रूप तिरस्कारसे होने वाला)अनिश(निरन्तर) दुःख-तु(दुःख को भी त्याग कर । तत्-ज्ञ-अतत्-ज्ञ-शिशून् (जानने वाले तथा न जानने वाले शिशु तुल्य मूर्ख अज्ञानी कृत अपराधों को) कृपया (करुणा कर के) क्षमस्व (क्षमा कर)। कर्म-क्षयात् (प्रारब्ध क्षय हो रहा है इस भावना से) ताडनम् (पर कृत ताडनादि दुःखों को सहन कर) ।।८।।

❀ त्रिविध ताप निवृत्ति का उपाय ❀

हे मनः ! 'अध्यात्मादि' दुःख में होने वाले ताप को त्याग कर । यहाँ अध्यात्मादि' में 'आदि' शब्द से अधिदैव और अधिभूत का भी ग्रहण है । अध्यात्म दुःख का अर्थ यह है कि आत्मा कहिये अन्तःकरण को, अधि कहिये आश्रय अर्थात अन्तःकरण को आश्रय करके होने

वाला दुःख-काम, क्रोध, शोक, चिन्ता आदि अध्यात्म दुःख, तथा आत्मा कहिये देह को तिस देह को आश्रयण करके होने हारा दुःख-ज्वर, शूल आदि यह भी अध्यात्म दुःख है। इन दोनों को आधि और व्याधि भी कहते हैं। आधि मानसिक दुःख है और व्याधि शारीरिक दुःख है। अधिदैव दुःख देवता नवग्रह आदि से होता है तथा जल-वृष्टि और अग्नि आदि से होता है। अधिभूत दुःख शत्रु, चोर, सर्प, व्याघ्र आदि भूतों से होता है। इन तीनों से होने वाले दुःख में रहने वाला शोक चिन्ता रूप ताप उस का त्याग कर।

भाव यह कि जैसे 'वार्तिकसार' में लिखा है कि अज्ञानी को दुःख दो प्रकार का होता है। एक कर्मजन्य जैसे रोग, अपमान, दरिद्रता, पुत्र मरण आदि से दुःख। दूसरा मोहजन्य अर्थात कर्मजन्य-दुःख होने पर मन में शोक चिन्ताआदि से दुःख। कर्मजन्य-दुःख तो ज्ञानवान् को भी होता है। परन्तु मोहजन्य दुःख नहीं होता। वह तत्वज्ञान से निवृत्त हुआ होता है। इस सम्बन्ध में गीता में भी कहा है कि दुःख तो प्राप्त होता है परन्तु उद्वेग न करे और सुख भी प्राप्त होता है उसमें स्पृहा न करे। श्रुति में भी कहा है कि ज्ञानवान हर्ष शोक को त्याग देता है। आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है। इस प्रकार हे मनः अध्यात्म आदि दुःखों के प्राप्त होने पर शोक चिन्तादि ताप का त्याग कर। किस साधन से? 'स्वभावजात'

अर्थ यह है कि स्वरूप भाव जैसा अपना स्वरूप सत, चित्त, आनन्द, असंग शुद्ध, सर्वदा मुक्त है, उसके ज्ञान से ताप को दूर कर। तथा अनात्म रूप तीनों शरीरों का स्वभाव कि यह अनित्य, जड़, दुःख रूप हैं इस प्रकार देखने से शोक आदि ताप को दूर कर। भाव यह जैसे पंचदशीकार ने कहा है कि तन्तुओं से पट को कोई वियुक्त कर लेवे, बालों से कम्बल को कोई वियुक्त कर लेवे और मृत्तिका से घट को कोई वियुक्त कर लेवे तो ज्वरों से इन शरीरों को वियुक्त कर लेगा। अर्थात नहीं हो सकते। इस प्रकार देखने से कि तीनों देह दुःखरूप ही हैं फिर इनकी चिन्ता शोक आदि क्या करनी। इस तरह हे मनः! अध्यात्मादि दुःख से होने वाले ताप को दूर कर।

❀ शत्रु मित्र में समभाव रखने का साधन ❀

हे मनः विषमता को त्याग कर। जैसे शत्रु-मित्र चोर साधु, पापवान-पुण्यवान्, क्रोधी-शान्त, कामी-निष्कामी इत्यादि विषमता वाले पुरुषों में विषमता का त्याग कर। किस साधन से ? समभाव से अर्थात सम जो समान ब्रह्म भाव है सर्व में ब्रह्म भाव के दर्शन से। श्री भगवान ने कहा है कि-"निर्दोषं हि समं ब्रह्म" निर्दोष सम ब्रह्म है। भाव यह कि जैसे जल से पूरित एक कांच के घट में, जल से पूरित मृत्तिका के घट में, चाण्डाल के जलपात्र में, ब्राह्मण के जलपात्र में, मदिरा से भरे पात्र में, गङ्गा जल से भरे पात्र में सूत्र के पात्र में अवान्तर विषमता होने पर भी उनमें प्रतिबिम्बित सूर्य एक है। सूर्य का कोई भेद नहीं

और प्रतिबिंब भी जल मदिरा आदि के भेद होने पर भी सब में समान रूप से है कोई भेद नहीं रखता। उपाधि में गुण दोष हैं, प्रतिबिंब में नहीं है। तैसे पूर्वोक्त विषम पदार्थों में ब्रह्म सबमें साक्षिरूप से सम है। तथा चिदाभास भी ब्रह्म के ही हैं उनमें भी कोई विषमता नहीं। किन्तु गुणदोष अन्तःकरण उपाधियों में है। इस प्रकार निश्चय करने से हे मनः! विषमता का त्याग कर।

अथवा जैसे सूर्य की धूप ब्राह्मण चाण्डाल आदि सब शरीरों के समान आकार होती है। शरीरों के भेद से धूप में भेद नहीं है। एक आकार वाली है। तैसे शत्रु मित्र आदि शरीरों की विषमता होते हुए भी ब्रह्म एक अद्वितीय है। हे मनः! इस तरह निश्चय करता हुआ शत्रु मित्र आदि भावना का त्याग कर।

यहां भावना से समदर्शन ही कहा है, समवर्तन नहीं कहा गया। इसका भाव यह नहीं कि चाण्डाल आदि के साथ समवर्तन होवे, किन्तु समदर्शन हो और किसी भी प्राणी का मन से भी अनिष्ट चिन्तन न हो। सर्वदा सब के लिए सद्भावना ही करनी चाहिए। मन, वाणी, और शरीर से भी किसी की हानि नहीं करनी चाहिये।

※ पर कथाजन्य विक्षेप निवृत्ति का उपाय ※

हे मनः! परकथा के विक्षेप का भी त्याग कर अर्थात दूसरों की कथा के विक्षेप को त्याग कर। भाव यह कि देश काल, जाति, जन सम्प्रदाय, कुटुम्ब परिवार की आदि अलग

करने से विक्षेप होता है, उसका त्याग कर। यदि एक व्यक्ति की हानि दूर करने में समर्थ हो तो उस हानि को निवारण करके विक्षेप को दूर कर। परन्तु जहां जन समुदाय के दुःख को निवारण नहीं कर सकता तो चिन्ता आदि विक्षेप से अपने साधन न छोड़ बैठे, किन्तु विचार आदि से विक्षेप को त्याग दे।

अथवा किसी दूसरे पुरुष शत्रु आदि ने जो साधक के दोष तर्क आदि से किसी दूसरे को कहे और उस कथन के श्रवण से अपने को विक्षेप हो तो उसको त्याग कर। किस साधन से? 'अक्षोभतः' अर्थात चित्त को गम्भीर बना कर क्षोभ से रहित करके। जैसे छोटे जलाशय का जल सूर्य के ताप से गरम होता है, सरदी से शीत होता है, पशु आदि के प्रविष्ट होने पर मलिन होता है और वायु के चलने से कम्पायमान होता है, किन्तु महान जलाशय समुद्र सूर्य से तपता नहीं, सरदी से शीत नहीं होता, मगर मच्छ जहाज आदि से मलिन नहीं होता और न ही वायु से कांपता है, क्योंकि वह गम्भीर है इस कारण से क्षोभ से रहित है। तैसे ही छोटे जलाशय की तरह जो क्षुद्र चित्त हैं वह निमित्तों के आने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह ईर्षा, असूया आदि से क्षुभित हो जाते हैं क्योंकि वह बहुत तुच्छ हैं। और जो चित्त विचार धैर्य आदि से गम्भीर होते हैं वह निमित्तों के आने पर भी क्षुभित नहीं होते। इसलिए विचार धैर्य आदि से चित्त को गम्भीर और

महान बनाकर क्षोभ से रहित होकर परकथा के विक्षेप का हे मनः ! त्याग कर ।

❀ धिक्कार जन्य संताप के त्याग का उपाय ❀

हे मनः ! धिक्कार रूप अभिभव से होने वाले निरन्तर दुःख को त्याग दे । अर्थात शत्रु आदि दूसरे पुरुष धिक्कारें कि तेरे को धिक है तो ऐसे अभिभव अर्थात तिरस्कार से निरन्तर होने वाला जो चिन्तारूप दुःख उसको त्याग दे । किस साधन से ? तद्योग्यता की भावना से । अर्थात अपने में तिस धिक्कार आदि की योग्यता है इस भावना से ।

भाव यह कि जब साधक अपने में दोष देखता है और दूसरे के कहने पर यह जानता है कि यह सत्य कह रहा है हमारे में इनकी योग्यता है क्योंकि हमारे में दोष हैं तो ऐसी भावना से उसका चिन्ता रूप दुःख दूर हो जाता है। जैसे योगवासिष्ठ में कहा है कि जो अपने शरीर और जगत में सत्यत्त्व की आस्था बाँधे हुए हैं तिन मोह मदिरा पान करने वालों को पुनः पुनः धिक्कार है ।

गुरू महाराज ने भी कहा है—

"धिग धिग खाया धिग धिग सोया ।
धिग धिग कापड़ अङ्ग चढ़ाया" इत्यादि ।

जिसने मनुष्य जन्म पाकर इसको सफल नहीं किया, ज्ञान के साधन विवेक वैराग्यादि सम्पादन नहीं किये और ज्ञान को प्राप्त नहीं किया उसको सभी शास्त्र धिक्कार करते हैं । यदि साधक को कोई पुरुष धिक्कार करे तो वह

यही जाने कि मेरे में धिक्कार की योग्यता है, क्योंकि अज्ञानी हूं। अतः मैं ज्ञान को प्राप्त करके जन्म सफल करूंगा तो धिक्कार के योग्य नहीं होऊंगा। ऐसी भावना करने से चिन्ता रूप दुःख निवृत्त होगा तथा साधनों में प्रवृत्ति होगी।

अथवा अकार का विश्लेष करने से 'तद्योग्यताऽभाव-नात' इस शब्द का अर्थ यह है कि यदि ज्ञान के साधनों में साधक तत्पर है अथवा ज्ञान को प्राप्त कर लिया है तब अपने में धिक्कार के योग्यपने की अभावना से चिन्ता दूर करदे अर्थात दूसरे के किये हुए धिक्कार शब्द का हमारे साथ सम्बन्ध ही नहीं है, कथन करने वाले के मुख और अन्तःकरण के साथ ही इसका सम्बन्ध है, हमारे साथ नहीं ऐसी भावना से चिन्ता का त्याग कर। उसे मध्यान्ह के सूर्य को कोई थूक फेंके तो सूर्य के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह अपने में धिक्कार की योग्यता की अभावना के विचार करने से चिन्ता के दुःख को दूर कर दे। अष्टावक्र गीता में लिखा है कि सेवक, पुत्र, कलत्र तथा जाति के पुरुषों द्वारा हँसी से भी धिक्कार किया हुआ ज्ञानी योगी किंचित क्लेश आदि विकार को प्राप्त नहीं होता।

❀ अन्यकृत अपराध वा ताडनादि का सहन ❀

हे मनः! 'तज्ज्ञातज्ञशिशुन्दसम्व' अर्थ–तज्ज्ञ तिप साधक को जो जानने वाले समीपवर्ती. अतज्ज्ञ निम साधक को जो नहीं जानते ऐसे मूर्ख अज्ञानी ये हों शिश

छोटे बच्चे की तरह वे यदि ताड़नादि अपराध करें तो तिन को क्षमा करके हे मनः ! सहन कर । उसका बदला मत ले अर्थात उनको मार पीट मत कर ।

वह शिशु क्यों हैं ? वासिष्ठ में लिखा है कि शिशु और मूर्ख दोनों समान हैं कोई अन्तर नहीं । जैसे बालक पूर्वापर के विचार से रहित है तैसे मूर्ख भी पूर्वापर के विचार से रहित है । जैसे बालक तुच्छ खिलौने आदि की इच्छा करता है । तैसे मूर्ख भी तुच्छ, स्त्री, पुत्र, धन आदि की इच्छा करता है । जैसे बालक अमर्याद है अर्थात मैले में हाथ डालकर मुख में डाल लेता है तथा चरणपादुका को भी मुख में डाल लेता है अर्थात मर्यादाशून्य है तैसे मूर्ख पुरुष भी वर्णाश्रम की मर्यादा से शून्य है । जैसे शिशु मूढ़ और अविवेकी है तैसे अज्ञानी भी मूढ़ और अविवेकी है । इस लिये दोनों में कोई अन्तर नहीं । ऐसा जान कर उन को क्षमा कर दे । मार पीट आदि को सहन कर । किस साधन से ? एक तो कृपया अर्थात कृपा से । जैसे माता पिता को बच्चे पर अहेतु की करुणा होती है ऐसे ही मूर्ख अज्ञानियों पर करुणा करके क्षमा कर ।

दूसरा 'कर्मक्षयात्' अर्थात कर्म के क्षय के निमित्त से । भाव यह कि यदि तू भी बदला लेगा और उनको मार-पीट करेगा तो तेरे पुण्यकर्म क्षीण हो जावेंगे । मानसिक श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि कर्म नष्ट हो जावेंगे । इस हेतु से भी उनको क्षमा कर । अथवा कर्म के क्षय के

निमित्त से उनके ताड़न आदि को क्षमा कर। यह जान कि इनके ताड़न आदि से जो दुःख का भोग हुआ है वह शरीर की प्रारब्ध ही थी, इससे वह भोग समाप्त हुआ। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म का क्षय जानकर उसको क्षमा कर।

परकथा विक्षेप की अपेक्षा धिक्कार का दुःख अधिक होता है, इसलिये 'तु' शब्द से विलक्षणता कही है। तथा धिक्कार से भी ताड़न का दुःख अधिक होता है, वह पीछे कथन किया है। इसलिये ही क्रमशः परकथाविक्षेप फिर धिक्कार ताड़न उत्तरोत्तर कथन किये गये हैं ॥८॥

प्रथम श्लोक में समय का विभाग कहा और दूसरे श्लोक से लेकर आठवें श्लोक तक सद्वासनाओं से दुर्वासना की निवृत्ति का उपाय कथन किया। अर्थात् दुर्वासना रूप दोष प्रबल सद्वासना रूप गुण से ही निवृत हो सकता है। जैसे अर्जुन ही कर्ण के वध करने में समर्थ था चारों पाण्डव नहीं थे। भीमसेन ही दुर्योधन को मारने में योग्य था और धृष्टद्युम्न ही द्रोणाचार्य के मारने में योग्य था, अन्य नहीं। इसी तरह प्रबल दैवीसम्पदा के गुण ही स्वविरोधी आसुरी सम्पदा के दोषों का नाश कर सकते हैं। यह पीछे कथन किया गया है। अब यह शिक्षा करते हैं कि मनुष्य शरीर में होने वाले आयु और इन्द्रियां तथा प्रज्ञा बहुत स्वल्प समय में रहने वाले हैं इसलिये साधक सावधान होकर ज्ञान प्राप्ति के लिये शीघ्र साधन करे। नहीं तो वंचित होकर जन्म मरण के चक्कर में ही पड़ा रहेगा—

आयुर्गच्छति पेटिकामिव जलं सन्त्यज्य देहं जवात्
गच्छन्तीन्द्रियशक्तयोऽपि कुलटा यद्वन्नरं निर्धनम् ।
प्रज्ञा गच्छति दावदाहसमये नीडं मृगीवत्त्वरा
ज्ञात्वा सत्वरमाश्रयात्मपदवीं देहं वृथा मा कृथाः॥६॥

अन्वयः—पेटिकां (पिटारी में से निर्गत) जलम्-इव (जल की न्यांई) आयुः (आयु) देह (इस शरीर को) जवात् (बड़े वेग से) संत्यज्य (त्याग कर के) गच्छति (जा रहा है). इन्द्रिय-शक्तयः-अपि (सर्वेन्द्रियों की शक्तियाँ भी) गच्छन्ति (देह से चली जा रही है) यत्-वत् (जैसे कि) कुलटा (वेश्या) निर्धन-नरम् (निर्धन पुरुष को छोड़ कर चली जाती हैं), दाव-दाह-समये (जंगल में अग्नि लगने पर) नीड (अपने स्थान को छोड़कर) त्व-रा (कहीं भागने वाली) मृगी-इव (मृगी की न्यांई) प्रज्ञा (बुद्धि भी) (शरीर से निकल कर) गच्छति (भाग रही है), ज्ञात्वा (ऐसा समझकर) (हे मन) आत्म-पदवीं (आत्मज्ञान के मार्ग को) सत्वरम् (शीघ्रता से) आश्रय (आश्रयगा कर), देहं (मनुष्य देह को) वृथा (व्यर्थ) मा (न) कृथाः (कर) ॥६॥

❀ मानव जन्म सफलता के लिये आचार्य की चेतावनी ❀

देह को बड़े वेग से त्याग कर आयु चली जाती है। जैसे पिटारी में भरा हुआ जल बड़े वेग से निकल जाता है, उसमें ठहरता नहीं है, वैसे ही देह रूप पिटारी से आयु रूप जल बड़े वेग से देह को त्याग करके जा रहा है। इसलिये हे मनः ! सावधान होजा। तथा शरीर में रहने वाले नेत्र श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियां और हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों की शक्तियां दर्शन श्रवणादि और ग्रहण गमनादि शरीर वृद्ध

होने पर सब चली जाती हैं। जैसे पहले कोई पुरुष धनी होवे उसके पास वेश्यायें रहती हैं। फिर निर्धन हो जाने पर उसको छोड़कर चली जाती हैं। इसी तरह इंद्रियों की शक्तियां भी वृद्ध होने पर चली जाती हैं। इस वास्ते पहले ही सावधान हो।

जैसे जंगल में अग्नि लगने पर मृगी अपने स्थान को छोड़ कर कहीं और जगह भाग जाती है तैसे युवा अवस्था की प्रज्ञा कहिये बुद्धि भी वृद्ध होने पर मृगी की तरह शरीर से निकल कर कहीं चली जाती है। इस प्रकार जानकर अर्थात् आयु, इन्द्रियों की शक्तियां और प्रज्ञा यह सब नहीं रहेंगी। ऐसा समझकर—

शीघ्रता से आत्मपदवी कहिये आत्मज्ञान के मार्ग को हे मनः ! आश्रयण कर। मनुष्य-देह को वृथा मत कर। अर्थात् चौरासी लाख योनियों में भ्रमते भ्रमते यह मनुष्य शरीर अब मिला है। यदि यह व्यर्थ हो जावेगा तो फिर मिलने की आशा नहीं। इसलिये सावधान होकर आत्मज्ञान को सम्पादन करके मनुष्य देह को सफल कर ॥६॥

अब रूपक कल्पना को कथन करते हुये अधिकारी के साधनों को कथन करते हैं। जैसे इन्द्रादि देवता भगवान् विष्णु को आश्रयण करके क्षीरसमुद्र को मथन कर उसमें से अमूल्य रत्न तथा अमृत को निकाल कर अमर हो गये तथा आनन्द को प्राप्त हुए थे, तैसे ही अधिकारी इन गुणों को प्राप्त होकर ज्ञान को पाकर जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त हो

जाता है। जैसे समुद्र से ही बहुत रत्न निकाले थे तैसे अधिकारी वेदान्त शास्त्र रूपी चीर समुद्र का अभ्यास रूप मथन करता हुआ इन अमूल्य रत्नों को प्राप्त करे। यह कहते हैं—

धैर्यैरावतशान्तिधेनुदमनामन्दारवृक्षं सदा
मैत्र्याद्यप्सरसं विवेकतुरगं सन्तोषचिन्तामणिम्।
आत्मज्ञानमहाऽमृतं समरसं वैराग्यचन्द्रोदयं
वेदान्तार्णवमाश्रयन्ननुदिनं सेवस्व मुक्तिश्रियम्॥१०

अन्वयः—(हे मुमुक्षु प्रो) वेदांत-प्रर्णवम् (वेदान्तरूपी क्षीरसमुद्रका) अनुदिनम् (प्रतिदिन) आश्रयन् (मथनरूप अभ्यास से) सदा (सदा के लिये) धैर्य-ऐरावत-शांति-धेनु दमन-आ-मन्दार-वृक्ष (धैर्य-रूप-ऐरावत, शांतिरूपी कामधेनु, सर्व ओर से इन्द्रियों का दमन रूप कल्पवृक्ष), मैत्रीं-आदि-अप्सरसं (मैत्री आदि देवांगनाए विवेक-तुरग (विवेकरूपी उच्चैःश्रवा नाम घोड़ा), सतोष-चितामणि (सतोष-रूप चितामणि) सम-रसम्-आत्मज्ञान-महा-अमृतम् (समरस आत्मज्ञान-महा-अमृतम् (समरस आत्मज्ञानरूप महा अमृत), वैराग्य-चन्द्र-उदय (वैराग्यरूप पूर्णिमा के चन्द्रमा के आविर्भाव) (इन पदार्थों को लाभ कर के) मुक्ति-श्रियं (मुक्त रूपिणी लक्ष्मी को) सेवस्व (सेवन करो अर्थात् मोक्ष भागि बनो)

धैर्य एरावतः—धैर्य रूप ऐरावत को अर्थात् आपत्ति और दुःखों में कायरता को प्राप्त होने वाले मन को एक धैर्य रूपी वृत्ति से सावधान करता हुआ ऐरावत हाथी के सदृश तिस पर आरूढ़ होवे। ज्ञान के साधनों में बहुत प्रतिबन्धक होते हैं, धैर्य के बिना साधन नहीं हो सकते इसलिए सबसे प्रथम साधक धैर्य को धारण करे। इस

श्लोक का आरम्भ भी आचार्य ने धैर्य से इसी वास्ते किया है—

शान्ति कामधेनुः—तथा शान्ति रूपी कामधेनु को अर्थात् सर्व विक्षेपों की निवृत्तिरूप शान्ति जिस से मन और इन्द्रियों के सब विक्षेप और ताप निवृत हो जाते हैं—ऐसी कामधेनु को आश्रयण करता हुआ—

दम-मन्दार वृक्षः—तथा दमनरूप मन्दारवृक्ष अर्थात् सर्वेन्द्रियों के दमन रूप मन्दार वृक्ष का आश्रयण करता हुआ। मन्दारवृक्ष का भावार्थ यह है कि पारिजातरूप कल्प वृक्ष सो इन्द्रियों का दमन है। जिस तरह कल्पवृक्ष के नीचे जाने पर सर्वाभीष्ट प्राप्त होते हैं तैसे इन्द्रियों के दमन से सर्वाभीष्ट साधन प्राप्त होते हैं। 'दमन' शब्द के अन्त में 'आ' शब्द को दमन के साथ लगाने पर 'आ' समन्तात् इन्द्रियों का दमन अर्थ होगा। अर्थात् सर्व ओर से—आंतर वासनामय एवं बाह्य शब्दादि विषयों से इन्द्रियों का दमन करना। और मन्दारवृक्ष के साथ लगाने पर 'आ' समन्तात् चारों तरफ फैला हुआ मन्दार वृक्ष रूप दमन उसको आश्रयण करता हुआ—

मैत्री आदि देवाङ्गनाएं:—तथा मैत्री आदि अप्सराओं को आश्रयण करता हुआ। यहां आदि शब्द से करुणा, मुदिता और उपेक्षा का ग्रहण करना। अर्थात् सुखी धनवान् प्राणियों में मैत्री की भावना करता हुआ दुःखी दीनों में करुणा की भावना करता हुआ और पुण्यवानों में

मुदिता (प्रसन्नता) की भावना करता हुआ यह अधिकारी पुरुष ईर्ष्या तथा निष्ठुरता [चित्त की कठोरता] को निवारण करके और असूया न करके पुण्य में मति एवं पाप की उपेक्षा करता हुआ स्थित होवे। अर्थात् ईर्ष्या आदि दोषों के निवारणार्थ मैत्री मुदिता आदि की मन में भावना करे। सुखी धनियों आदि के साथ मित्रता आदि के करने का तात्पर्य नहीं है किन्तु भावना में तात्पर्य है।

विवेक-अश्व:—तथा विवेक रूपीउच्चैः श्रवा नाम के घोड़े को आश्रयण करता हुआ अर्थात् आत्मा अनात्मा का विभाग करके निश्चय करने का नाम विवेक है। आत्मा सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है तथा अनात्मा असत्, जड़, दुःख रूप है। इन दोनों को जैसे हंस क्षीर-नीर को भिन्न करता है तैसे परमहंस दोनों का विवेचन करता है। ऐसे विवेक रूपी घोड़े को आश्रयण करता हुआ।

यहाँ विवेक को घोड़ा इसलिये कहा है कि घोड़े पर बैठ कर पुरुष मार्ग में जैसे शीघ्र गमन कर सकता है तैसे विवेक ही सर्व साधनों में प्रथम साधन है, इस पर आरूढ़ होकर ही मोक्ष मार्ग के साधनों में साधक चल सकता है।

सन्तोष चिन्तामणि:—तथा सन्तोष रूप चिन्तामणि को आश्रयण करता हुआ--सन्तोष का अर्थ यह है कि यथा लाभ में संतुष्ट होना अर्थात् अप्राप्त की वाँछा न करना और प्राप्त को यथा शास्त्र ग्रहण करना तथा सौम्य और सदाचार सम्पन्न रहना। इस संतोषरूप चिन्तामणि का आश्रयण करता हुआ संतोष को चिंता-

मणि इस वास्ते कहा है कि जैसे चिंतामणि चिंतित पदार्थ को प्राप्त कर देती है। ऐसे संतोष भी सम्पूर्ण अभीष्ट सुखों को प्राप्त कर देता है। संतोष से उत्तम सुख नहीं है। संतोष ही परम लाभ है। साधक इसका आश्रयण करता हुआ--

आत्मज्ञानरूप महाअमृत:--तथा आत्मज्ञानरूप महा-अमृत को निकालकर उसको आश्रयण करता हुआ अर्थात् ब्रह्म का आत्मा से एकत्व ज्ञान--यह आत्मज्ञान ही हुआ महाअमृत इससे सम्पन्न होकर। भाव यह कि देवताओं का अमृत चिरंजीव करता है, ब्रह्म प्राप्ति रूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता और आत्मज्ञान ब्रह्म प्राप्ति रूप मुक्ति को प्राप्त करता है इस वास्ते इस आत्मज्ञान को महाअमृत कहा है।

यह आत्मज्ञान मुख्य अमृत है। देवताओं का अमृत गौण अमृत है। यह आत्मज्ञान रूप महाअमृत समरस है--समरस--सम कहिये ब्रह्म है रस जिसमें, ऐसा आत्मज्ञान रूप महाअमृत समरस। श्रुति में लिखा है कि सो परमात्मा ही रस रूप है, परमात्मरस को पाकर ही यह विद्वान आनन्द को प्राप्त करता है। 'वार्तिक' कार ने भी कहा है कि इस रस कहिये सार, अमृत रूप ब्रह्म को आनन्द और अह्लाद रूप कथन किया गया है जिस रस रूप सार करके निस्सार जगत भी साररूप करके प्रतीत होता है। श्री विद्यारण्य स्वामी ने भी 'अनुभूति प्रकाश' में कहा है कि मूढ़ पुरुष मधुर आदि रस को आस्वादन करता है परन्तु विवेकी ज्ञानी महात्मा का ब्रह्म ही रस है। जैसे मूढ़ पुरुष

मधुर रस को भोजन करके आनन्द वाला होता है तैसे तत्ववेत्ता ब्रह्मरूप रस में स्थित होकर आनदन्वान होता है। इस प्रकार के आत्मज्ञान रूप महा अमृत समरस को आश्रयण करता हुआ--

वैराग्य-चन्द्रमाः—तथा वैराग्य रूप पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदय-आविर्भाव को। जैसे पूर्णमाशी के चन्द्रमा का उदय ताप को मिटाकर शीतल और आह्लद करता है तैसे वैराग्य भी तृष्णाओं की निवृत्ति रूप पर-वैराग्य होकर चित्त को शांत, शीतल और ताप रहित करता है। महाभारत में लिखा है कि जितना काम-सुख अर्थात् विषय-सुख इस लोक में है तथा जितना महत् सुख स्वर्गादि में है। वह सुख तृष्णा के नाश रूप वैराग्य की सोलहवीं कला भी नहीं। इस तरह वैराग्य रूप चन्द्रोदय को आश्रयण करता हुआ—

वेदान्तरूप क्षीर सागरः तथा वेदांतार्णव-वेदान्त-वेद का अन्त होवे जहां सो कहिए वेदान्त अर्थात् वेद का अन्तिम भाग-उपनिषित् है और उपनिषत् का विचार रूप शारीरिक शास्त्र, गीता शास्त्र तथा उनके प्रकरण ग्रन्थ यह सम्पूर्ण शास्त्र वेदान्त कहे जाते हैं। यही वेदान्त ही हुआ अर्णव—समुद्र—क्षीर समुद्र इसी के मथन रूप अभ्यास से यह धैर्य आदि तथा आत्मज्ञानरूप महा अमृत तथा वैराग्य पर्यन्त महारत्न प्राप्त हुये हैं। इसलिये यह अधिकारी इस वेदान्त रूप क्षीर समुद्र का प्रतिदिन बार बार अभ्यास करता हुआ अर्थात् इसी का आश्रयण करता हुआ—पूर्वोक्त सब गुणों को प्राप्त हुआ है। यह वेदान्तार्णव विशेष्य है और

धैर्यादि जितने रत्न पहले कहे गये हैं वह इस वेदान्तार्णव के विशेषण हैं।

❀ मुक्ति रूपिणी लक्ष्मी देवी ❀

इसके अनन्तर जो क्षीर समुद्र से लक्ष्मी देवी का आविर्भाव हुआ। वैसे ही वेदान्ताभ्यास तथा आत्मज्ञान रूप महा अमृत से मुक्ति रूपी श्री अर्थात् लक्ष्मी का आविर्भाव होता है।

❀ जीवन-मुक्ति तथा विदेह मुक्ति ❀

इसलिए हे अधिकारी जन! इस मुक्ति रूपी लक्ष्मी का सेवन कर। मुक्ति क्या है अर्थात् जीवन्मुक्ति-जीते हुये ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि बन्ध की निवृत्ति अर्थात् कर्तृत्व आदि अभिनिवेश से रहित अपने ब्रह्मभाव में स्थिति जीवन्मुक्ति है। इस का सेवन कर। तब कृतकृत्य ज्ञातज्ञेय प्राप्तप्राप्य और हतहेय हो जायगा। अर्थ यह है कि करने योग्य श्रवण मनन आदि कर लिये हैं इससे कर्तव्य का अभाव हो गया सो कृत-कृत्यता है। जानने योग्य ब्रह्म आत्म रूप से जान लिया तो ज्ञातव्य का अभाव हुआ यह ज्ञातज्ञेयता है। प्राप्त करने योग्य ब्रह्मानन्द था सो प्राप्त कर लिया इससे प्राप्तप्राप्यता हुई और निवृत्त करने योग्य दुःख आदि थे जिनके कारण अज्ञान आदि सब निवृत्त हो गये इससे हतहेय हुआ।

प्रारब्ध समाप्ति के अनन्तर देह का नाश होने पर विदेहमुक्तिरूप ब्रह्म भाव की प्राप्ति तथा सर्व दुःखों की निवृत्तिरूप मुक्ति को प्राप्त कर।

इसका भाव यह है कि लोकदृष्टि से जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति है। जब लोगों को ज्ञानवान् की देह दीखती है तो जीवनमुक्त कहते हैं और जब नहीं देखते तो विदेह मुक्त कहते हैं। परन्तु ब्रह्मवेत्ता नित्य ही मुक्त है। अतः अपना ब्रह्मभाव उसको सर्वदा ही प्राप्त है इसी को ज्ञान से जाना है कोई प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि ब्रह्म जाना जाता है। इसलिये इस मुक्ति को सेवन कर ॥१०॥

अब ग्रन्थकार, ईश्वर, वेद तथा गुरूप्रसाद को कथन करते हुये कृतज्ञता सूचित करते हैं।

प्रसादाद्दक्षिणामूर्तेः श्रुत्याचार्यप्रसादतः।
दुर्वासनाप्रतीकारदशकं रचितं मया ॥

इति श्री विद्यारण्य स्वामीकृतं दुर्वासनाप्रतीकारदशकं समाप्तम्॥

अन्वयः—दक्षिणा-मूर्तेः। परमगुरू दक्षिणामूर्ति भगवान् शंकर की कृपा से तथा) श्रुति-आचार्य-प्रसादतः (वेद और गुरुदेव के अनुग्रह से) मया (मेरे करके) दुर्वासना-प्रतीकार-दशकं (यह 'दुर्वासना-प्रतीकार-दशक' की) रचितम् (रचना की गयी है)।

ज्ञानदाता शंकरः—'दक्षिणामूर्ति'-अर्थात् अधिकारी जनों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने में कुशल है मूर्ति जिनकी ऐसे भगवान् शङ्कर उनके प्रसाद से अर्थात् अनुग्रह से। भाव यह कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति अधिकारीजनों को भगवान् शंकर से ही होती है। जैसे कहा है "ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत्"। अर्थात् अधिकरी पुरुष ज्ञान को भगवान महेश्वर से प्राप्त करने की इच्छा करे। इसलिये सुख करने

दक्षिण दिशा में होने वाले मुख मे अधिकारियों को उपदेश करते हैं इसलिये दक्षिण-दिशाभिमुख वाली मूर्ति को भी दक्षिणामूर्ति कहते हैं। एसे ही श्वेताश्वतरोपनिषत् में भी लिखा है–"जो आप का दक्षिण मुख है तिस मुख से मेरे को नित्य ही 'पाहि'-रक्षा करो" अर्थात् ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर मेरे जन्म मरण के चक्कर को दूर करो। एसे दक्षिणामूर्ति के प्रसाद से।

चतुर्विध कृपा:--तथा श्रुत्याचार्यप्रसादतः' श्रुति-वेद तथा आचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरूदेव उनके प्रसाद से कहिये अनुग्रह से मैंने 'दुर्वासनाप्रतीकार-दशक' की रचना की है। सो इसको अधिकारी जन श्रवण पठन और सेवन करके सद्वासनाओं से दुर्वासनाओं का प्रतीकार करे। भाव यह है कि कृपा चार प्रकार की है–[१] आत्म-कृपा [२] ईश्वर कृपा [३] गुरु कृपा [४] शास्त्र कृपा। अर्थ यह कि [१] प्रथम अधिकारी स्वयं तत्पर होकर मोक्ष मार्ग में पुरुषप्रयत्न करे यह आत्म कृपा है। यदि यह आप पुरुषप्रयत्न न करे तो आगे की तोनों ईश्वरादि की कृपायें कोई सहायता नहीं करतीं। इसलिये सब से प्रथम आत्म कृपा है। यदि पुरुष आप हो अपना उद्धार करना चाहे तो ईश्वरादि भी इसकी सहायता करेंगे। इसलिये सब से मुख्य आत्म कृपा है।

(२) जब अधिकारी पुरुष-प्रयत्न रूप आत्म कृपा करता

कृपा न करे तो अधिकारी पुरुष-प्रयत्न करते हुये भी विघ्नों से हत हुआ मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए अपने पुरुषार्थ के अभिमान को छोड़कर ईश्वर की सहायता भजन आदि से प्राप्त करे। जब ईश्वर कृपा करता है तब इसके सब विघ्न दूर होते हैं तथा ब्रह्मश्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव की प्राप्ति होती है।

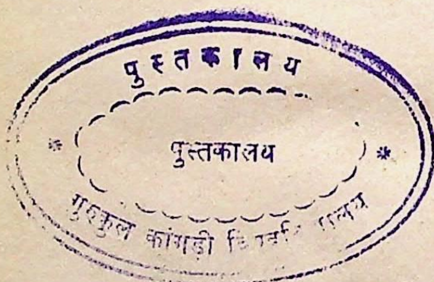
[३] जैसे माता पिता अपने आश्रित कन्या को वर की प्राप्ति कराते हैं वैसे ही ईश्वर भी गुरुदेव की प्राप्ति कराता है। यह ईश्वर कृपा है। फिर सेवा और शुश्रूषा से प्रसन्न हुए गुरुदेव शास्त्र के अर्थ को यथार्थ उपदेश करते हैं। यह गुरु कृपा है।

(४) तब श्रद्धा प्रेम आदि अधिकार के पूर्ण सिद्ध होने पर शास्त्र के अर्थ जैसे हैं वैसे हृदय में प्रकट होते हैं। यह शास्त्र कृपा है। श्वेताश्वतर श्रुति में कहा है कि जिसकी जैसे परमात्वदेव में पराभक्ति है वैसे ही गुरुदेव में भक्ति हो उसके हृदय में ही कथन किए हुए यह उपनिषत् के अर्थ प्रकट होते हैं। इसलिए ग्रन्थकार आचार्य ने आत्मकृपा को सिद्धवत् करके अर्थात उनको प्रथम प्राप्त ही है ऐसा निश्चय करके पश्चात् तीन कृपा ईश्वर शास्त्र तथा गुरु के प्रसाद रूप अनुग्रह को सूचित किया है।

॥ओ३म् शम् ॥

इति श्री स्वामी ब्रह्म प्रकाश जी महाराज कृता दुर्वासना-

प्र[illegible] ॥


पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

